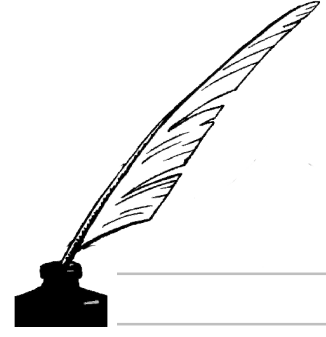
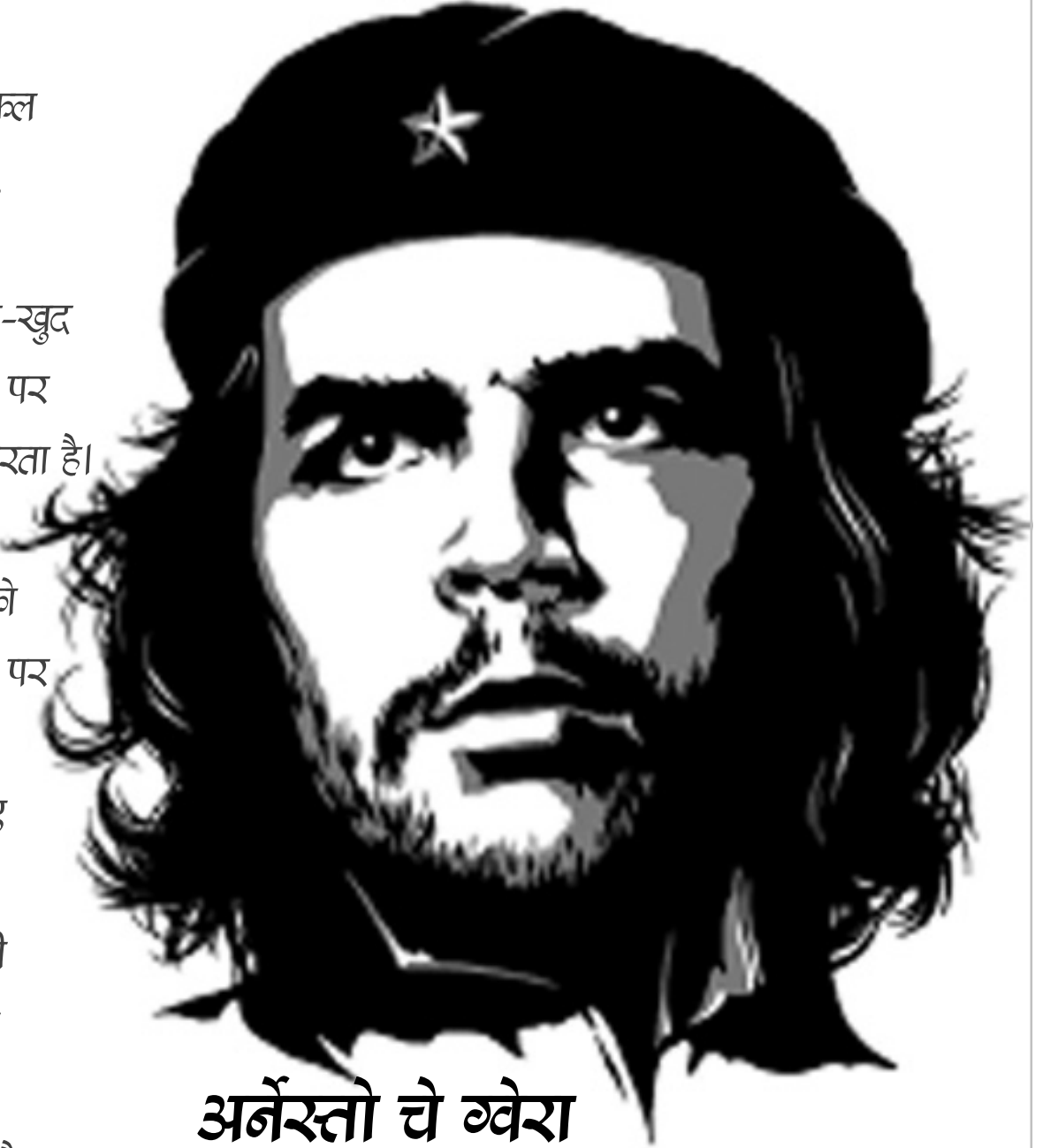


समरथ

अप्रैल-जून 2019 • नई दिल्ली



क्रांति
कोई
ऐसा फल
नहीं है,
जो
खुद-ब-खुद
ज़मीन पर
आ गिरता है।
इस
फल को
ज़मीन पर
गिराने
के लिए
हमें
खुद ही
मेहनत
करनी
पड़ती है।



अर्नेस्तो चे ग्वेरा

14 जून 1928—09 अक्टूबर 1967

नाहि तो जनम नसाई

■ साहिर लुध्यानवी



इन काली सदियों के सर से,
जब रात का आंचल ढलकेगा
जब दुख के बादल पिघलेंगे,
जब सुख का सागर छलकेगा
जब अम्बर झूम के नाचेगा,
जब धरती नगमे गाएगी
वो सुबह कभी तो आएगी ॥

जिस सुबह की खातिर जुग-जुग से,
हम सब मर-मर कर जीते हैं
जिस सुबह के अमृत की धुन में,
हम जहर के प्याले पीते हैं
इन भूखी प्यासी रूहों पर,
इक दिन तो करम फ़रमाएगी
वो सुबह कभी तो आएगी ॥

लगभग डेढ़ महीने और सात चरणों में मुकम्मल होने वाली चुनावी प्रक्रिया की समाप्ति पर जनता ने 17वीं लोकसभा के गठन के लिए भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का चयन किया और उसे भारी मतों से सफल बनाया। जहाँ जनता के इस निर्णय का विश्लेषण आवश्यक है, वहाँ इस जनादेश का आदर भी लोकतंत्र की पहली शर्त है। इस चुनाव और उसके परिणाम की एक विशेष बात यह है कि बेरोजगारी, किसानों की दुर्दशा, नोटबंदी से होने वाली आर्थिक और व्यापारिक कठिनाईयाँ, युवा पीढ़ी की आकांक्षाओं और सपनों को अनदेखा किए जाने के बावजूद जनता ने पिछली सरकार को दोबारा सत्ता सौंप दी। जिसका एक कारण यह हो सकता है कि जनता भली-भाँति जानती है कि किसी बड़ी प्रतियोगिता जैसे विश्व क्रिकेट कप के लिए खिलाड़ियों का चयन अगर एक तरफ उनकी योग्यता की बुनियाद पर होता है तो दूसरी तरफ यह भी ध्यान रखना होता है कि उन्हें 'डिलीवर' करने का पूरा समय मिलना चाहिए। टीमों में जल्दबाजी में तब्दीली या दो एक प्रतियोगिताओं के बाद कप्तान का बदला जाना खिताबी मुहिम के लिए घातक सिद्ध होता है। ऐसा लगता है कि जनता ने इस चुनाव में इसी तर्क से काम लिया है।

पिछले पाँच वर्षों में उच्च शैक्षणिक संस्थानों, विश्व विद्यालय और संवैधानिक संस्थाओं में दखलअंदाजी के निरंतर प्रयास, अभिव्यक्ति और मीडिया हमलों के साथ विजलांते गुप्तों को मिली हुई खुली छूट के मद्देनजर इस तरह के अंदेशे जाहिर किए जा रहे हैं कि पिछली सरकार के दोबारा सत्ता संभालने पर उन शक्तियों के हौसले बढ़ जाएंगे जो अल्पसंख्यकों में डर पैदा करके और सांप्रदायिक सौहार्द को तबाह करके देश को बहुसंख्यकवाद की तरफ धकेलना चाहती है।

मगर प्रधानमंत्री ने पार्लियामेंट के सेंट्रल हॉल में राजग के सांसद दल का नेता चुने जाने के बाद आगामी पांच वर्षों में अपनी सरकार के राजनीतिक एजेंडे में अल्पसंख्यकों का विश्वास जीतकर 1857 के पहले स्वतंत्रता संग्राम के उस जज्बे को जिंदा करने की बात कही है जब हिंदू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर गुलामी के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे। उनके इस बयान और सबका साथ सबका विकास के नारे में सबका विश्वास शामिल करने का स्वागत किया जाना चाहिए और आशा करनी चाहिए कि नई सरकार शांति-व्यवस्था कायम रखते हुए अपने हर नागरिक की सुरक्षा को सुनिश्चित करेगी और संविधान को उसकी मूल आत्मा के साथ लागू करेगी जिससे मुलक में ऐसा वातावरण बने जिसमें हर नागरिक पूरी स्वतंत्रता के साथ सर उठाकर जी सके और अपने सपनों को साकार कर सके।

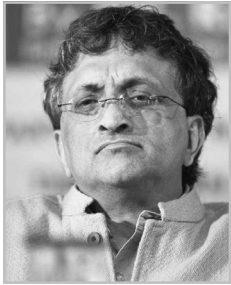
2 • समरथ

अप्रैल-जून 2019

महान कलाकार कर्नाड

मैं किसी ऐसे और व्यक्ति को नहीं जानता जिसके व्यक्तित्व में भारतीय संस्कृति का सौंदर्य और गहराई इस खूबसूरती के साथ रची-बसी हो और वो भी बिलकुल प्राकृतिक ढंग से और गैर-महसूस तौर पर.

■ रामचंद्र गुहा



गिरीश कर्नाड जिनकी पिछले हफ्ते बेंगलूरु में अपने घर पर नींद के बीच मृत्यु हो गई, एक कद्दावर शख्सियत थे। वो संभवतः स्वतंत्रता के बाद भारत के सबसे प्रभावकारी नाटककार थे। उन्होंने कम से कम आधा दर्जन महान नाटक लिखे, जिनमें 'तुगलक', 'तलेदंड' और 'ओदकलु बिम्ब' उल्लेखनीय हैं। जो पहले पहल कन्नड़ में लिखे गए और आठवीं सूची की लगभग सभी भाषाओं में स्टेज हो चुके हैं।

कर्नाड एक महान अभिनेता भी थे। जिसका सबूत श्याम बेनेगल की आरंभिक हिंदी फिल्मों और पट्टाभि रामा रेड्डी की कन्नड़ क्लासिक 'संस्कार' है। यही नहीं वो खुद भी एक योग्य निर्देशक थे जिन्होंने कन्नड़ के बड़े उपन्यासों पर आधारित फिल्मों बनाईं। इसके साथ ही वो फिल्म एंड टेलीविजन इंस्टीट्यूट ऑफ इंडिया (पुणे), संगीत नाटक अकादमी (नई दिल्ली) और नेहरू सेंटर (लंदन) के योग्य प्रशासक की हैसियत से भी अपना लोहा मनवा चुके थे। याद रहे कि पूना इंस्टीट्यूट में वो जिन अभिनेताओं की तरबीयत में शरीक रहे उनमें नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी और टॉम आल्टर भी शामिल हैं।

मैं एक बार बेंगलूरु से बंबई जा रहा था। इस फ्लाइट में कर्नाड भी थे। मैं जिस वक्त उनके पास से गुजरा तो उनके हाथ में कुछ पत्रे और कलम देखकर पूछ बैठा कि वो क्या कर रहे हैं। तो उन्होंने बताया कि वो अपने नए नाटक के मराठी अनुवाद का प्रूफ पढ़ रहे हैं। मैं गिरीश कर्नाड का बहुत बड़ा प्रशंसक तो पहले से ही था लेकिन ये सुनकर मेरे दिल में उनकी कद्र और कीमत कई गुना बढ़ गई। एक व्यक्ति जिसकी मातृ भाषा कोंकणी थी और जो कन्नड़



में लिखता था और शानदार अंग्रेजी बोलता था, मराठी पर भी जबरदस्त पकड़ रखता था।

लेकिन ये कई भाषाओं में उनकी महारत नहीं थी जो कर्नाड को दीगर लेखकों और कलाकारों से अलग करती थी। मैं किसी ऐसे और व्यक्ति को नहीं जानता जिसके व्यक्तित्व में भारतीय संस्कृति का सौंदर्य और गहराई इस खूबसूरती के साथ रची-बसी हो और वो भी बिलकुल प्राकृतिक ढंग से और गैर महसूस तौर पर। उनके जीवन और कृत्यों में उत्तर और दक्षिण, लोक और शास्त्रीयता का संगम नजर आता है। वो एक ओर केसरबाई केरकर और मोहम्मद रफी की गायकी, बाला सरस्वती और फराह खान के नृत्य की बारीकियों पर तो दूसरी तरफ बसावा और बी.आर.अंबेडकर के नैतिक दर्शन और शेक्सपीयर और फिलिप लारकिन के आर्ट पर गहराई के साथ रोशनी डाल सकते थे।

सितंबर 2017 में गौरी लंकेश की हत्या के बाद अफवाह थी कि आतंकवादियों की हिट लिस्ट में अगला लेखक गिरीश कर्नाड है। मैंने उन्हें एक सुबह फोन किया और पूछा कि क्या मैं आज दोपहर बाद उनसे मिल सकता हूँ। गाड़ी से उनकी रिहायश

शेष पृष्ठ 12 पर

जहां मुसलमानों ने मंदिर बनवाए और हिंदुओं ने इमामबाड़े

■ गोविंद पंत राजू



‘जिसको न दे मौला, उसको दे आसफुद्दौला’। लखनऊ के पुराने इलाकों में आज भी इस कहावत को बात-बात पर दोहराने वालों की कमी नहीं। अवध के नवाबों में से एक नवाब आसफुद्दौला को जितना अवध की राजधानी फैजाबाद से लखनऊ लाने के लिए जाना जाता है उससे कहीं ज्यादा अपनी जनता के सुख-दुख की चिंता करने वाले शासक के तौर पर याद किया जाता है। अवध की गंगा-जमनी तहजीब के जन्मदाता और इसके महत्वपूर्ण संरक्षक के रूप में भी उनका नाम इतिहास के पन्नों में दर्ज है।

इस गंगा-जमनी तहजीब ने न सिर्फ नवाबों के दिनों में बल्कि मौजूदा दौर में भी लखनऊ को सांप्रदायिक सौहार्द और मिली-जुली संस्कृति के गुलदस्ते के रूप में बचाए रखा है। वरिष्ठ पत्रकार और अवध की संस्कृति के जानकार हुसैन अफसर कहते हैं, ‘जैसे दो दरिया अलग-अलग बहते हैं और अपना रुख नहीं बदलते ठीक उसी तरह यहां हिंदू और मुस्लिम इसी तरह मिल-जुल कर रहते हैं। अपने मजहब में पूरी आस्था के साथ दूसरे मजहब की इज्जत करना, यही गंगा-जमनी तहजीब है। यही कारण है कि लखनऊ में मजहबी दंगों का इतिहास नहीं मिलता।’

जाने-माने फिल्मकार मुजफ्फर अली इस बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं, ‘यहां न गंगा बहती न जमुना। लेकिन वो बात तो है जो इसे गंगा-जमनी तहजीब का घर बनाती है। यहां मुसलमान मंदिर बनाते हैं और हिंदू इमामबाड़े।’ अवध के इतिहास के अध्येता रवि भट्ट गंगा जमनी तहजीब के लिए नवाब आसफुद्दौला के योगदान को कुछ इस तरह याद करते हैं, ‘जब 1775 में आसफुद्दौला ने लखनऊ को राजधानी बनाया तो उन्होंने फूलों की

होली की परम्परा शुरू की और ये सिलसिला आज भी बरकरार है।’ आसफुद्दौला के बारे में यह भी कहा जाता है कि एक बार मुहर्रम के दौरान होली पड़ने पर भी उन्होंने होली खेलने से गुरेज नहीं किया क्योंकि होली प्रजा का त्योहार था।

9 सितम्बर 1722 को मुगल बादशाह मोहम्मद शाह ने सआदत अली खां को अवध की सत्ता सौंपी थी। 1732 में सआदत अली ने अवध के स्वतंत्र होने की घोषणा कर दी। आसफुद्दौला, सआदत खां द्वितीय और वाजिद अली शाह उन नवाबों में थे जिन्होंने गंगा-जमनी तहसील को सबसे ज्यादा बढ़ावा दिया। अवध के नवाब के तौर पर आसफुद्दौला ने 1775 में सत्ता संभाली थी। उसी साल वे अपनी राजधानी फैजाबाद से लखनऊ ले गए।

1784 में अवध में भयानक अकाल पड़ा। लोग दाने-दाने को मोहताज हो गए। गरीब तो गरीब अमीरों को भी दो वक्त के निवाले के लाले पड़ गए। ऐसे कठिन वक्त में आसफुद्दौला जनता की मदद के लिए आगे आए। उन्होंने लखनऊ में एक बड़ी इमारत बनवाने का काम शुरू कर दिया। आज इस इमारत को हम लखनऊ के बड़े इमामबाड़े के तौर पर जानते हैं। कहते हैं कि इस इमामबाड़े को बनने में ग्यारह वर्ष लगे और इस पर कुल पांच लाख दस हजार रुपए का खर्च आया।

इमामबाड़े के निर्माण को लेकर तरह-तरह के किस्से-कहानियां हैं। कहा जाता है कि अमीर-गरीब सबको इमामबाड़े में काम मिल सके, इसके लिए दिन में आम जनता इमामबाड़े का निर्माण करती और हर तीसरी रात अमीर लोगों को उस निर्माण को ढहा देने का काम दिया जाता। गरीब-अमीर मिला कर करीब 20 हजार लोगों को इस तरह रोजगार मिला था।

बड़ा इमामबाड़ा या आसिफो इमामबाड़ा आज भी अवध की शान बना हुआ है। इसके मुख्य वास्तुकार दिल्ली के किफायतुल्लाह को माना जाता है। हालांकि इसे बनाने में ऐसे आम लोगों का सहयोग था जो वास्तुकला के जानकार नहीं थे, फिर भी यह निर्माण वास्तुकला का एक शानदार नमूना है। इसका मुख्य हॉल 50 गुणा 16 गुणा 15 मीटर का है जो खम्भों के बिना टिका हुआ है। इसे बनाने में लखौरी ईंट, चूना, सुर्खी, सिंघाड़े का गूदा, गुड़, गोंद, बाजरे का आटे और उड़द की पिसी दाल जैसी चीजों का इस्तेमाल किया गया था।

इस इमामबाड़े के निर्माण को कई व्यंजनों से भी जोड़ा जाता है। कहते हैं कि निर्माण में लगी जनता के खाने के लिए गोश्त को खास मसालों के साथ रात भर पकाया जाता और सुबह-सुबह काम शुरू होने से पहले सबको वही गोश्त और रोटियां खाने को दी जातीं। खाली पेट यानी निहार पेट खाए जाने के कारण इस भोजन का नाम ही निहारी पड़ गया। ऐसे ही बिरयानी को भी इमामबाड़े के निर्माण से जोड़ते हुए कहा जाता है कि बहुत ज्यादा लोगों का भोजन बनने के कारण गोश्त और चावल को एक साथ पकाने का जो सिलसिला तब शुरू हुआ था वही बाद में बिरयानी की लज्जत में बदल गया।

जैसा कि पहले जिक्र हुआ कि बड़ा इमामबाड़ा बनवाने में अमीरों को मजदूरी करने में झिझक न हो, इसलिए उनके लिए रात को काम का इंतजाम किया गया था। शहर के चौक इलाके में तहसीन की मस्जिद का निर्माण भी इसीलिए करवाया गया था कि ऊंचे खानदान के जो लोग इमामबाड़े की भीड़ के बीच शर्म के कारण काम नहीं करना चाहते थे वे इस मस्जिद के निर्माण में काम कर सकें। आसफुद्दौला के करीबी दरोगा तहसीन अली खां की देखरेख में यह मस्जिद 1788 से 1794 के दौरान बनवाई गई थी।

अवध में परोपकार के लिए इस तरह के निर्माणों की सूची काफी बड़ी है। साथ ही दूसरे धर्म के प्रति सम्मान का भाव बताने वाले उदाहरणों की भी कमी नहीं है। नवाब शुजाउद्दौला ने 1739 में अयोध्या में हनुमान गढ़ी को जमीन दी थी। आसफुद्दौला ने इसके लिए धन दिया था। लखनऊ में अलीगंज के हनुमान मंदिर का निर्माण अवध की अलिया बेगम ने अपनी एक मन्नत पूरी होने के बाद करवाया था। आज इस हनुमान मंदिर की बहुत मान्यता है और जेट में लखनऊ में बड़ा मंगल मनाने की परंपरा यहीं से शुरू हुई। बड़ा मंगल में पूरे शहर में सैकड़ों जगहों पर लोग भंडारों का आयोजन करते हैं जिनमें मुस्लिमों की भी भागीदारी रहती है।

अवध की परंपरा का एक और प्रतीक अमीनाबाद की

पड़ाइन मस्जिद है। करीब पौने पांच सौ साल पुरानी इस मस्जिद को बरहानुल मुल्क की हिंदू पत्नी बेगम खदीला खानम ने बनवाया था, जिसमें महिलाओं के लिए पर्दे में नमाज की भी व्यवस्था थी। इसी तरह ठाकुरगंज में झाउलाल का इमामबाड़ा और काजमैन का निर्माण भी हिंदुओं ने ही करवाया था। टिकैतराय का इमामबाड़ा भी इसी कड़ी का एक सिलसिला है।

अवध की गंगा-जमनी तहजीब का एक रूप लखनऊ की रोजा इफ्तारी में भी देखा जा सकता है। अनेक इलाकों में हिंदू लोग मुस्लिम साथियों के साथ रोजा इफ्तार में शामिल होते हैं तो कई जगहों पर हिंदुओं की ओर से रोजा इफ्तार का इंतजाम किया जाता है। यह लखनऊ ही है जहां गुरुद्वारों में भी रोजा खुलवाया जाता है और मंदिरों भी। पिछले वर्ष जून में रमजान के दौरान लखनऊ के प्रसिद्ध मनकामेश्वर मंदिर के आरती स्थल पर महंत दिव्यगिरि ने ऐसा ही इफ्तार आयोजन किया। इसमें 500 से ज्यादा मुस्लिमों ने आरती स्थल पर नमाज अदा की और फिर रोजा खोला।

मिल-जुलकर रहने और सामूहिक रूप से धार्मिक परंपराओं के पालन का एक और उदाहरण 'शाही रसोई' है। अवध के तीसरे नवाब मुहम्मद अली शाह ने छोटे इमामबाड़े का निर्माण कराया था। इस इमामबाड़े के साथ ही शाही रसोई भी बनवाई गई थी जहां रमजान और मुहर्रम में गरीबों के लिए तरह-तरह के व्यंजन बनवाए जाते थे। मुहम्मद शाह ने अपनी वसीयत यानी कार-ए-खैर में कई तरह के सामाजिक दायित्वों का उल्लेख भी किया था। उन्होंने ही हुसैनाबाद ट्रस्ट की स्थापना की और अपनी वसीयत को उसमें शामिल किया।

हुसैनाबाद ट्रस्ट आज लगभग 200 साल बाद भी शाही रसोई की परंपरा जिंदा रखे हुए है। ट्रस्ट रमजान के पूरे महीने शहर की अलग-अलग दो दर्जन से अधिक मस्जिदों में हर रोज अलग अलग तरह की इफ्तारी भेजता है। नमाज के बाद रोजेदार इसी इफ्तारी से अपना रोजा खोलते हैं। इतना ही नहीं, रमजान के दिनों में शाही रसोई से हर रोज सुबह ग्यारह बजे से सैकड़ों गरीब और यतीम परिवारों को भोजन बांटा जाता है। हफ्ते में तीन दिन सालाना रोटी और तीन दिन दाल रोटी। इस साल ट्रस्ट ने इस काम के लिए 18.81 लाख रुपए का इंतजाम किया। हालांकि अब यह ट्रस्ट सरकारी अधिकारियों की देखरेख में है। ट्रस्ट पर अपनी संपत्तियों को खुर्द-बुर्द करने के अनेक आरोप भी लगते रहे हैं। लेकिन गंगा-जमनी तहजीब को बचाए रखने में शाही रसोई जैसे उसके योगदान प्रशंसा पा ही जाते हैं।

साभार : सत्याग्रह

क्या भारत जल युद्ध की तरफ़

बढ़ रहा है?

हाल ही में जल संकट से जुड़ी ऐसी रिपोर्टें सामने आई हैं जो भारत के भविष्य को लेकर एक बड़ी चिंता पैदा करती हैं.

■ दुष्यंत कुमार

पिछले दिनों सूखे की समस्या पर नज़र रखने वाली व्यवस्था 'ड्रॉट अलर्ली वॉर्निंग सिस्टम' के हवाले से खबर आई कि भारत का 42 प्रतिशत हिस्सा 'असामान्य सूखे' की चपेट में है। यह आंकड़ा पिछले साल के मुकाबले करीब छह प्रतिशत ज्यादा है। वहीं, छह प्रतिशत से थोड़ा कम हिस्सा 'विशेष रूप से' सूखाग्रस्त है। इस स्थिति से सबसे ज्यादा प्रभावित इलाकों में तेलंगाना, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान जैसे राज्य शामिल हैं।

देश में बढ़ते जल संकट की ओर इशारा

करती यह इस साल की एकमात्र रिपोर्ट नहीं है। बीते कुछ दिनों से ऐसी कई खबरें सामने आई हैं जो भारत में पानी के मुद्दे को लेकर गंभीर चिंता पैदा करती हैं। इन रिपोर्टों पर गौर करें तो यह साफ दिखता है कि देश बहुत तेजी से भयावह जल संकट की ओर बढ़ रहा है। जानकार इसकी चेतावनी काफी समय से दे रहे हैं। ऐसे में यह सवाल गैर-मुनासिब नहीं लगता कि क्या आने वाले समय में देश में पानी के लिए बड़े पैमाने पर हिंसा भी हो सकती है या कहें कि क्या भारत एक 'जल युद्ध' की तरफ बढ़ रहा है?



इस संभावना को समझने के लिए जल संकट से जुड़ी कुछ मौजूदा परिस्थितियों पर गौर करना चाहिए जो हमारे भविष्य को प्रभावित करती दिखती हैं।

2030 तक 40 प्रतिशत भारतीयों के पास पानी नहीं होगा

नीति आयोग की एक हालिया रिपोर्ट के मुताबिक 2020 तक देश में दस करोड़ लोग पानी की कमी की समस्या का सामना कर रहे होंगे। इनमें दिल्ली, बंगलुरु, चेन्नई और हैदराबाद जैसे बड़े शहरों में रह रहे लोग काफी बड़ी संख्या में शामिल रहेंगे। चेन्नई के हालात तो अभी से भयावह हैं। वहीं, 2030 तक देश के 40 प्रतिशत नागरिक पीने के पानी की समस्या से बुरी तरह प्रभावित होंगे। जानकारों के मुताबिक इस स्थिति से निपटने के लिए अभी से आपातकालीन कदम उठाने होंगे। लेकिन क्या इस दिशा में कुछ सार्थक काम हो पा रहा है?

हजारों करोड़ रुपये खर्च करने के बाद भी नदियों का पानी पीने लायक नहीं

सरकारें दावा कर रही हैं कि वे नदियों के प्रदूषण की समस्या को दूर करने के लिए हजारों करोड़ रुपये खर्च कर रही हैं। लेकिन हकीकत यह है कि तमाम कोशिशों के बाद भी अपेक्षित और जरूरी बदलाव नहीं हो पा रहा है। हाल ही में केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड (सीपीसीबी) ने कहा कि गंगा नदी का पानी सीधे पीने योग्य नहीं है। एक रिपोर्ट के मुताबिक जिस रास्ते से गंगा नदी गुजरती है, वहां अलग-अलग फासले पर लगाए गए 86 लाइव निरीक्षण केंद्रों में से केवल सात पर गंगा का पानी योग्य पाया गया है। उसे भी छानने या स्वच्छ किए बिना नहीं पिया जा सकता। बाकी 79 जगहों का पानी सफाई के बाद भी नहीं पिया जा सकता। वहीं, उत्तर प्रदेश से लेकर पश्चिम बंगाल तक गंगा नदी का पानी नहाने के लायक भी ठीक नहीं है।

हालात नर्मदा नदी के भी अच्छे नहीं हैं। मध्य प्रदेश और गुजरात के लोगों के लिए जीवनदायनी यह नदी प्रदूषण के साथ अब अपने वजूद के संकट से भी गुजर रही है। स्थानीय रिपोर्टों की मानें तो नर्मदा का पानी पहली बार अपने उद्गम स्थल अमरकंटक पर ही घट गया है। बताया जा रहा है कि गायत्री और सावित्री सरोवर के पास नर्मदा का पानी पूरी तरह सूख गया है। वहीं, नर्मदा कुंड का पानी तीन सीढ़ी नीचे खिसक गया है। उधर, नर्मदा के प्रदूषण को लेकर सरकारें अभी भी केवल विचार कर रही हैं। खबरों के मुताबिक गंगा की तर्ज पर देश की 13 नदियों को फिर से 'जीवित' करने की योजना बनाई जा रही है। इस संबंध में केंद्र को सुझाव भेजे जा रहे हैं। लेकिन यह

काम कब तक पूरा होगा, इस बारे में फिलहाल कोई दावा नहीं किया जा सकता।

गर्मी भी बढ़ रही है और प्यासे लोग भी

एक तरफ जल-स्रोतों का ह्रास हो रहा है, वहीं दूसरी तरफ देश में गर्मी हर साल बढ़ती जा रही है। इसकी जड़ में उत्तर भारत के साथ अब दक्षिण भारत भी आ गया है। खबरों के मुताबिक इस साल तेलंगाना, आंध्र प्रदेश, केरल, पुडुचेरी और तमिलनाडु के कई इलाकों में तापमान 44 डिग्री सेल्सियस से ऊपर पहुंच गया है। इसके अलावा मसूरी जैसे हिल स्टेशनों वाले इलाकों में भी पारा 38 डिग्री को पार कर गया। जानकारों के मुताबिक बीते 50 सालों में ऐसा पहली बार हुआ है।

वहीं, ज्यादा गंभीर बात यह सामने आई है कि अब गर्मी पहले से ज्यादा दिनों तक रहती है। ऊपरी तौर पर देखें तो यह पर्यावरण की समस्या लगती है। लेकिन इसकी जड़ राजनीति और कॉर्पोरेट के गठजोड़ से भी जुड़ी है। देश के बड़े कारोबारी पैसा बनाने के चक्कर में अंधाधुंध जंगलों का सफाया करने पर तुले हुए हैं। इससे आदिवासियों के पलायन की समस्या तो बढ़ी ही है, साथ में पर्यावरण को भी बहुत ज्यादा नुकसान हुआ है और गर्मी बढ़ी है। उदाहरण के लिए, दस साल पहले तक छत्तीसगढ़ के पहाड़ी इलाके बैलाडीला में पारा कभी 35 डिग्री से ऊपर नहीं जाता था। आज यहां 44 डिग्री सेल्सियस के तापमान वाली गर्मी पड़ रही है। वजह है लौह अयस्क के लालच में खनन के लिए लाखों पेड़ों की कटाई।

वहीं, देश की बढ़ती जनसंख्या भी जल संकट के मुद्दे का अहम पहलू है जिस पर न के बराबर चर्चा होती है। इस हिसाब से गर्मी के साथ देश में प्यासे लोगों की तादाद बढ़ती जा रही है। रिपोर्टें बताती हैं कि 2030 तक भारत डेढ़ अरब से ज्यादा की जनसंख्या वाला देश बन जाएगा। यहां वर्तमान में ही लोग असमान जल वितरण की समस्या से जूझ रहे हैं। ऐसे में 2030 में सभी को बराबर पानी मिल पाएगा, यह दावा नहीं किया जा सकता।

पीने योग्य पानी कम हो रहा है

जहां पीने के पानी में बढ़ता प्रदूषण चिंता का विषय है, वहीं जिन जल स्रोतों में पीने योग्य पानी है, वे भी घटते जा रहे हैं। पीटीआई की एक हालिया रिपोर्ट के मुताबिक केंद्रीय जल आयोग ने कहा है कि देश में 91 प्रमुख जलाशयों में पानी का स्तर पिछले 10 साल के औसत से कम हो गया है। ये जलाशय अधिकतर पश्चिम और दक्षिण भारत के राज्यों में हैं। आयोग की मानें तो इतने बड़े स्तर पर जलाशयों का घटना देश के इन हिस्सों में बढ़ते जल संकट का संकेत है।

अकेले पड़ने का जोखिम उठाकर भी हमें उदार मूल्यों के लिए हर स्तर पर अपना संघर्ष जारी रखना होगा

हम ऊपर से एक सुरक्षित राष्ट्र भले हों पर हम गांव तक के स्तर पर अब बंटे हुए लोग हैं।

■ अशोक वाजपेयी



हम अपने को समझदार समझते थे। हमें लगता था कि हमें भारत की गहरी और अच्छी समझ है। हमें लगता था कि सद्भाव, बहुलता, न्याय, समता, स्वतंत्रता आदि के मूल्य भारतीय जन समझता है और उनकी रक्षा करेगा। हमारी उम्मीद थी कि कितनी ही भावुकता फैलायी जाये, आर्थिक मुद्दे, बेरोजगार की कमी की ज़मीनी सच्चाई, किसानों की बढ़ती दुर्दशा, युवा आकांक्षाओं की अनदेखी आदि निर्णायक भूमिका निभायेंगे। हमको लगता था कि शहरी मध्यवर्ग भले हिन्दुत्व आदि के झांसे में आ जाये, देहाती गरीब, किसान और मजदूर एक समरस-बहुल भारत को बचायेंगे और उसे उदार के बजाय उग्र होने से रोकेंगे।

हमारा खयाल था कि गोदी मीडिया द्वारा फैलायी जा रही चकाचौंध बढ़ते हुए अंधेरों को ढांप नहीं पायेगी। हम सोचते थे कि देश को, या कि उसके एक बड़े और निर्णायक हिस्से को घृणा-हत्या-हिंसा-भेदभाव से बांधा और सक्रिय नहीं किया जा सकता। हमारा विश्वास था कि एक लोकतंत्र में भद्रता और परस्पर सद्भाव और सौजन्य की भाषा अंततः लांछन-गाली गलौज की भाषा को सार्वजनिक जीवन से अपदस्थ कर देगी। हमारी आकांक्षा थी कि संवाद में, बुद्धि और ज्ञान में, सार्वजनिक जीवन में असहमति और मतभेद की संभावना बनी रहे।

जो चुनाव में हुआ है उसने हमारा सारे

सोचे को बुहारकर बाहर फेंक दिया है। हम, कुल मिलाकर, औरों के सामने भर नहीं अपने सामने भी नासमझों की जमात साबित हुए हैं। हमारे लगभग सारे अनुभव ग़लत निकले हैं। आर्थिकी ने राजनीति को एक बार ज़रा भी प्रभावित नहीं किया है। राजनीति ने भारतीय चित्त से अधिकांशतः सभी मूल्यों को, संवैधानिक मूल्यों को भी अपदस्थ कर दिया है। सिर्फ मध्यवर्ग ने जोर-शोर से इस ध्वंस में भाग नहीं लिया है। निचले वर्ग, किसान-मजदूर आदि भी उसमें मुदित मन शामिल हो गये हैं। लग तो यह रहा है कि हिन्दुओं का अधिकांश हिन्दुत्व में विश्वास करने लगा है और स्वयं सच्चे-प्रामाणिक हिन्दू अल्पसंख्यक हो गये हैं।

पढ़े-लिखों की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक निरक्षरता पहले से चली आ रही थी। उसमें अब अभूतपूर्व इज़ाफा हो गया है। सांस्कृतिक निरक्षर अब अधिक आक्रामक और हिंसक तक होने को स्वतंत्र हैं। घृणा को, कितने ही दुर्भाग्य से, हमारे लोकतंत्र ने एक प्रभावी तत्व के रूप में स्वीकार कर लिया है। सार्वजनिक जीवन में भद्रता, सौजन्य, सद्भाव आदि अब बहुत अवनत होने की कगार पर हैं। तर्क-कुतर्क नहीं, गाली हमारे सार्वजनिक संवाद के केंद्र में प्रतिष्ठित होने जा रही है। बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान, संस्कृति की संस्थाओं का अवमूल्यन जो पहले से चल रहा था अब नयी गति पायेगा। हम ऊपर से

एक सुरक्षित राष्ट्र भले हों पर हम गांव तक के स्तर पर अब बटे हुए लोग हैं।

हम जिसे गोदी मीडिया कहकर अविश्वनीय और अप्रामाणिक समझते थे चुनाव के नतीजों के बारे में उसी के अनुमान सही निकले हैं। यह मुकाम उदारचरितों के लिए इस आत्मस्वीकृति का है कि भारत की हमारी समझ गलत निकली है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपने उदार मूल्य बोध को छोड़कर इस भयावह अवसान को चुपचाप देखें या उसमें हाथ बंटाने लगें। अकेले पड़ने का जोखिम उठाकर भी, हमें इन मूल्यों की जगह बनी रहने के लिए हर स्तर पर अपना संघर्ष जारी रखना होगा। हम हार गये हैं पर थके नहीं हैं!

विचार में कविता की जगह

अहमदाबाद में मूर्धन्य गुजराती कवि निरंजन भगत की स्मृति में एक न्यास गठित हुआ है जिसने अपना पहला स्मृति पुरस्कार प्रसिद्ध बुद्धिजीवी और गांधी-विचारक त्रिदीप सहद को देने का सुयोग मुझे दिया। अपने स्वीकृति-भाषण में सुहद ने शुरूआत में ही महात्मा गांधी का एक उद्धरण दिया जिसमें कहा गया कि 'कवि का कोई समकक्ष नहीं होता' जिसमें बाद में गांधी जी ने जोड़ा कि 'कवि अपनी विलक्षण दुनिया में रहता है जिसे वह स्वयं रचता है—विचारों की उसकी दुनिया।' सुहद ने अन्ना आख्यातोवा, ख्लेबनिकोव, मण्डलस्टाम, निरंजन भगत आदि के हवाले से यह निरूपित किया कि कैसे कविता विचारों की दुनिया में प्रवेश करती और उसे आलोकित-उद्वेलित करती है। जिस दुनिया में सच और झूठ के बीच अन्तर खत्म कर दिया गया हो उसमें यह संवाद होता रहना चाहिये कि अंततः सत्य क्या है। कविता की भूमि काल्पनिक होती है पर छलना नहीं। यह भूमि विचार की खुरदरी भूमि को कुछ रस-रसायन, कुछ मानवीय गरमाहट, कुछ सपनों की आहट, कुछ सचाई का संवेद देती है।

हमारा खयाल था कि गोदी मीडिया द्वारा फैलायी जा रही चकाचौंध बढ़ते हुए अंधेरो को ढांप नहीं पायेगी। हम सोचते थे कि देश को, या कि उसके एक बड़े और निर्णायक हिस्से को घृणा-हत्या-हिंसा-भेदभाव से बांधा और सक्रिय नहीं किया जा सकता। हमारा विश्वास था कि एक लोकतंत्र में भद्रता और परस्पर सद्भाव और सौजन्य की भाषा अंततः लांछन-गाली गलौज की भाषा को सार्वजनिक जीवन से अपदस्थ कर देगी। हमारी आकांक्षा थी कि संवाद में, बुद्धि और ज्ञान में, सार्वजनिक जीवन में असहमति और मतभेद की संभावना बनी रहे।

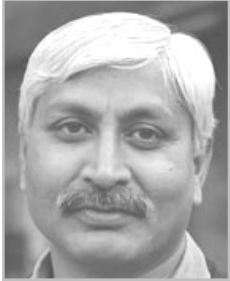
निरंजन भगत सिर्फ बड़े कवि और प्रसिद्ध अध्यापक भर नहीं थे। उनकी मित्रमंडली बड़ी थी और उन मित्रों से उनका संपर्क-संवाद निरंतर बना रहता था। बताया गया कि वे दिनों के नाम नक्षत्रों पर नहीं अपने मित्रों के नाम पर रखते थे। वे हर सप्ताह के हर दिन अपनी शाम किसी मित्र के यहां बिताते थे। बारी-बारी से और किस दिन की शाम किस मित्र के यहां गुजारेंगे यह निश्चित था। इन शामों में, जो खुली हुई होती थीं, कोई भी अन्य मित्र अनामंत्रित आ सकता था। एक शाम कोई पूरी नयी फिल्म, दूसरी शाम रवीन्द्रनाथ के नाम, तीसरी में बोदेलेयर का पाठ आदि। इन मित्रों में कई या उनके परिवार के अन्य सदस्य कविता में दिलचस्पी रखने वाले लोग नहीं थे। पर भगत की इस संगत में वे धीरे-धीरे हो गये। किसी और कवि ने कहीं और ऐसा किया हो इसका पता मुझे नहीं है। कविता, विचार, सृजन, बुद्धि, ज्ञान आदि में आत्मीय ढंग से दिलचस्पी जगाने का वह अद्भुत प्रयोग था।

पता यह भी चला कि गुजरात साहित्य परिषद् ने, पानी के प्याऊ की तरह, 'पुस्तक परब' नाम से एक योजना चलायी है। उसके अंतर्गत पहले लोगों-संस्थाओं-प्रकाशकों आदि से, पाठ्य पुस्तकें छोड़कर, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान

आदि की पुस्तकें निःशुल्क जमा की जाती हैं और फिर पूरे प्रदेश में एक सौ अस्सी केन्द्रों में हर महीने के एक निश्चित दिन कोई भी व्यक्ति इन पुस्तकों से किसी पुस्तक को निःशुल्क ले सकता है। इन केन्द्रों के माध्यम से लगभग आठ लाख पुस्तकें निःशुल्क बांटी जा चुकी हैं। नोट करने की बात है कि इस योजना के लिए एक पैसा भी सरकार से नहीं लिया गया है। वितरण केन्द्र मंदिर, पार्क, स्कूल, दुकानें आदि जगहों पर सक्रिय रहते हैं। स्वयंसेवी लोग पुस्तकें इन केन्द्रों पर अपने वाहनों द्वारा ले जाते और बांटते हैं। गुजराती के अलावा हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू आदि में पुस्तकें एकत्र और वितरित की जाती हैं।

बदहवास भारत में भाषा का भ्रसान

■ अपूर्वानंद



यह निश्चय ही हरिशंकर परसाई का देश नहीं रह गया है। उन्होंने अपनी पूरी जिंदगी देश को अपने लायक बनाने में लगा दी। कलम घिस-घिसकर ऐसा करने का एक पुरस्कार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने उनकी पिटाई करवा कर दिया था।

निधि चौधरी इस प्रसंग को याद रखेंगी तो उन्हें अकेलापन नहीं लगेगा। आखिरकार निधि चौधरी का तबादला कर दिया गया है। लेकिन कई लोगों को इससे भी तसल्ली नहीं है। वे पूछ रहे हैं, 'सिर्फ तबादला?' उनका बस चले तो निधि को न सिर्फ नौकरी से बर्खास्त कर दिया जाए बल्कि उन्हें जेल दी जाए।

लेकिन निधि चौधरी का तबादला यह साबित करने के लिए सबसे अच्छा और सबसे कम हिंसक उदाहरण है कि भारत समाज के तौर पर कितना बीमार हो चुका है। कम हिंसक इसलिए कि इसमें कम से कम निधि को शारीरिक हमले का सामना नहीं करना पड़ा है।

यह घटना बताती है कि हम किस प्रकार एक चिर उत्तेजना की अवस्था में रह रहे हैं और कैसे हमारा सारा स्नायु तंत्र स्थायी तनाव से ग्रस्त हो चुका है। पहले पात्र और घटना को समझ लें।

अचानक अनेक माध्यमों से यह खबर फैलने लगी कि बृहन्मुंबई म्युनिसिपल कॉरपोरेशन की संयुक्त कमिश्नर निधि चौधरी ने कहा है कि कितने शानदार तरीके से हम महात्मा का 150वां साल मना रहे हैं! वक्त आ गया है कि गांधी के हर चिह्न को मिटा दिया जाए। नोटों से उनकी तस्वीर, पूरी दुनिया से उनकी मूर्तियां हटा दी जाएं और उनके नाम वाले सारे संस्थानों और

सड़कों का नाम बदल दिया जाए। इतना ही नहीं उन्होंने गोडसे को 30 जनवरी के लिए धन्यवाद भी दिया है।

तुरंत मीडिया ने यह खबर प्रसारित की। एक राजनीतिक दल के नेता ने इस घोर पाप के लिए अधिकारी निधि चौधरी को फौरन बर्खास्त करने की मांग की। समाचार के फैलते ही निधि ने अपना यह ट्वीट मिटा दिया, लेकिन आज की दुनिया में आपके चाहे भी आपकी बात वापस नहीं होती।

ट्वीट का स्क्रीनशॉट मौजूद है। वह निधि के अपराध का गवाह है। उसका ही इस्तेमाल करके मीडिया ने, जिसे जाने क्यों अभी भी खबर का माध्यम या स्रोत माना जाता है, निधि के इस जुर्म की खबर हम सब तक पहुंचाई।

इस खबर को फिर अनेक समझदार, पढ़े-लिखे लोगों ने आगे प्रसारित किया। निधि मूर्ख, बदमाश, बदजबान ठहरा दी गई। इसका अभी अंत हुआ निधि के तबादले से, जिसे प्रशासन की दुनिया में में सजा या सरकार की फटकार माना जाता है।

निधि चौधरी को इस चौतरफा हमले में किसी का मुखर समर्थन नहीं मिला। किसी ने यह ध्यान नहीं दिया कि चलन के मुताबिक निधि ने चुपचाप ट्वीट नहीं हटाया है, इसकी खबर भी सार्वजनिक की है।

उन्होंने अपनी सफाई में बताया कि यह ट्वीट एक व्यंग्यात्मक टिप्पणी थी आज के वक्त पर। चूंकि इसे गलत समझा जा रहा है, वे इसे हटा रही हैं। उन्होंने अपना इतिहास भी बताया, गांधी के प्रति अपने अनुराग और श्रद्धा के प्रमाण

भी दिए लेकिन वे शायद एक ऐसे समाज दे बात करने की कोशिश कर रही थीं जो भाषा भूल चुका है।

हिंदी की एक वेबसाइट ने थोड़ा समझने की कोशिश की। उसे देखिए,

पहला पॉइंट—निधि चौधरी ने कहा कि वो गांधी का सम्मान करती हैं और उनके ट्वीट को लोगों ने गलत समझ लिया। निधि ने बार-बार कहा है कि वो महात्मा गांधी का अपमान करने के बारे में सोच भी नहीं सकतीं। एकबारगी निधि चौधरी के नजरिए से ट्वीट को देखिए। उसमें गांधी की तस्वीर नोटों से हटाने की बात है। मूर्तियां हटाने की बात है, लेकिन अंत में कहा गया है कि गांधी को यही हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

अब मान लीजिए कि आज के दौर में गांधी को बेतरह चाहने वाला शख्स अगर ऐसे नोट से गांधी को हटाने की बात कर रहा है जो गांधी के 'अंतिम जन' के खून पसीने से सना होता है। जो गैर बराबरी का प्रतीक सा बन गया है तो इसे व्यंग्य के रूप में भी समझा जा सकता है।

दूसरा पॉइंट—निधि के ट्विटर को काफी पीछे तक स्टडी किया। निधि किसी विचार विशेष को प्रमोट करती हुई कभी नहीं पाई गई। परिवार के साथ या दफ्तर की तस्वीरें और गांधी के शब्द और दर्शन दिखाई पड़ते हैं। अचानक सिर्फ एक ट्वीट आता है जिसे शायद निधि भी ठीक से जज नहीं कर सकीं और सोशल मीडिया पर कैच थमा बैठीं।

तीसरा पॉइंट—निधि चौधरी के जिस ट्वीट पर सारा बवाल हुआ उसमें सिर्फ तीन शब्द हैं जिसका बचाव कोई नहीं कर सकता। अगर कल को निधि सस्पेंड होती भी हैं तो यही तीन शब्द अपना रोल निभाएंगे। और ये शब्द क्या हैं 'Thank U Godse'।

निधि एक बेहद जिम्मेदार पद पर हैं। सारी बात सेन्स ऑफ सटायर पर नहीं छोड़ी जा सकती। 'अगर' निधि ने व्यंग्य भी किया था तो वो इतना महीन था कि उसे समझने के लिए जितना दिमाग लगाना चाहिए उतना सोशल मीडिया पर जनता लगाती नहीं है। इस उद्धरण से ही यह मालूम हो जाता है कि गड़बड़ी कहाँ है! जो आज की ट्विटर की दुनिया के वासी हैं, वे इमोटिकॉन के प्रयोग से खूब परिचित हैं, बल्कि अब तो शब्दों से ज्यादा उन्हीं से काम लिया जाता है अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए।

निधि ने गांधी के हर चिह्न को मिटाने की बात कहते हुए विलाप करता हुआ एक इमोटिकॉन लगाया। जिनकी भाषा

क्षमता सीमित है, शायद उनकी मदद के लिए! उस विलाप के बाद ही थैंक यू गोडसे फॉर 30 जनवरी, 1948 लिखा गया है। जिसे थोड़ी भी भाषा की तमीज़ है, वह इस टिप्पणी में छिपी वेदना और असहायता को तुरंत समझ जाएगा।

अफसोस! निधि अभी तक अपने समाज के संवेदना तंत्र के साथ हुई दुर्घटना से परिचित नहीं। वे उससे ज़्यादा उम्मीद कर बैठीं। भाषा का व्यवहार अगर संवाद के अर्थ में देखें, तो स्थान-काल-पात्र के संदर्भ से अलग करके नहीं समझा जाता सकता।

निधि के ट्वीट का संदर्भ गांधी का 150वां साल तो था ही लेकिन यह साल एक ऐसी पार्टी के दुबारा सत्ता में आने का है जिसने गोडसे को देशभक्त घोषित करने वाली एक महिला को सांसद बनाया। या यह कहना ठीक होगा कि जनता ने यह जानने के बावजूद, या कौन जाने, इसी वजह से उस महिला को सांसद के तौर पर चुना।

क्या इस जनादेश का सम्मान या स्वागत नहीं किया जाना चाहिए? तो, इसकी तर्कसंगत परिणति क्या हो सकती है? जिसे गोडसे ने शारीरिक तौर पर मिटाया, उसके भक्त को मिले इस जनादेश के बाद क्या उसका शेष चिह्न नहीं मिटाना चाहिए?

बेचारे गोडसे को जिसे खत्म करने के लिए फांसी मिली क्या हम उसे प्रतीकात्मक रूप में जीवित रखेंगे? क्या यह इस जनादेश के अनुरूप होगा? जनादेश सावरकर के बाद संसद में गोडसे को, अब तक स्थगित और विलंबित धन्यवाद प्रस्ताव देने का है।

लेकिन निधि प्रशासनिक अधिकारी हैं। वे यह सारी बात ऐसे ही लिखें तो फौरन सरकारी हमले का खतरा है, इसलिए उन्होंने जनादेश से अपनी व्यथा इस रूप में व्यक्त की।

इस एक वाक्य से ही वह दर्द जाहिर हो जाता है What an exceptional celebration of 150th birth anniversary year is going on! क्या अब वक्त नहीं आ गया है कि हर जगह, नोट, सड़क, संस्थान से उस गांधी का नाम मिटा दिया जाए जिसे शारीरिक तौर पर 30 जनवरी, 1948 को गोडसे जी ने मिटा दिया था! क्या उस महान कृत्य के लिए हम उनका शुक्रिया अदा न करें!

निधि की इस टीप को पढ़कर दर्दमंदों ने मन ही मन दो बूंद आंसू गिराए होंगे, लेकिन गांधी के अनुयायी भी ऐसी उत्तेजना में जी रहे हैं कि एक युवा मन की व्यथा उन्हें छू

नहीं सकी। उल्टे वे निधि पर ही पर टूट पड़े! यह घटना हमें खुद अपने बारे में सोचने को मजबूर करती है।

हम जो गांधी के विचारों के समर्थक और शांति के पैरोकार हैं, खुद एक दिमागी बुखार में गिरफ्तार हैं। हिंसा हमारा स्वभाव हो गई है। हम हमला करने का पहला मौका छोड़ना नहीं चाहते। इसलिए पढ़ने-सुनने के लिए जो समय, धीरज चाहिए, हमने वह जान-बूझकर गंवा दिया है।

यह अवस्था क्या कर सकती है, इसे एक और उदाहरण से समझा जा सकता है। जम्मू कश्मीर के कठुआ में एक बच्ची के साथ हुए बलात्कार का मुकदमा चल रहा है। अचानक खबर फैलने लगी कि अदालत ने सभी अभियुक्तों को बेकसूर मान लिया है।

कुछ ने विरोध-प्रदर्शन की तैयारी भी शुरू कर दी। कुछ वक्त बाद मालूम हुआ कि बचाव पक्ष ने अभियुक्तों की ओर से उनके निर्दोष होने की दलील दी है। इसी की खबर

छपी थी। क्यों इतनी मामूली से फर्क को हमारे मित्र नहीं समझ पाए? यह गलतफहमी आखिर हुई ही क्यों? और उन्हें जो समाज को समझदार बनाने का संघर्ष कर रहे हैं?

निधि पर आरएसएस या उनसे जुड़े लोगों की ओर से नहीं, धर्मनिरपेक्ष दिशा से ही हमला हुआ। आम तौर पर समझदार लोग इसके बाद भी उस अधिकारी का सिर मांग रहे हैं। बेहतर हो, हम हिंसा के बुखार और सन्निपात से उबरें। वरना हम अपने लोगों को ही मार डालेंगे। इसी ओर हमें ढकेला जा रहा है।

भाषा के प्रति संवेदना के लिए ठहराव की ज़रूरत है। जुबान की रंगतों को पहचानने लायक निगाह की दरकार है। अगर हम चिरअस्थिर अवस्था में होंगे तो बड़बड़ाहट और चिल्लाहट के अलावा कुछ नहीं बचेगा। भाषा को डूबने से बचाने के लिए खुद को बदहवासी से बचाने की ज़रूरत है।

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ते हैं।)

महान कलाकार कर्नाड

पृष्ठ 3 का शेष

तक पहुँचने में एक घंटा लगता लेकिन उनकी व्यस्तता को देखते हुए आम हालात में मैं उनसे मुलाकात के लिए कई दिन पहले समय लेता।

गिरीश ने मेरे अचानक फोन का जवाब दिया और उसी रोज मुझे घर बुलाया। मैं जे.पी. नगर में जब उनके घर पहुँचा तो यूनीफॉर्म पहने एक शख्स जो संभवतः उनकी सुरक्षा के लिए तैनात था कुर्सी पर बैठा झपकियाँ ले रहा था। मेरी कार के ब्रेक लगते ही वो चौंका और मुझे लेकर अंदर गया।

मैं ज्यादा से ज्यादा आधा घंटा बात करने के इरादे से आया था। मगर लगभग चार घंटे उनके साथ रहा और इस दौरान हमने गौरी लंकेश के बारे में बातें तो की हीं लेकिन इसके अलावा भी ऐसे निजी और गैर-निजी विषयों पर भी बातें करते रहे जिन पर साहित्यिक और बौद्धिक गुफ्तगू में चर्चा नहीं होती। जब रात हो गई तो मैं जाने के लिए उठा। गिरीश मेरी कार तक मेरे साथ आए। सिक्क्योरिटी गार्ड कहीं नज़र नहीं आया। गिरीश ने इस अचानक मुलाकात के लिए मेरा शुक्रिया अदा किया और कहा कि उन्हें और उनकी पत्नी दोनों को मेरे आने से बड़ी खुशी हुई।

इन दिनों गिरीश कर्नाड खुद भी बहुत बीमार थे और सांस के जानलेवा रोग से ग्रसित थे। अगली जनवरी में वो

धारवाड़ गए। जिसके बारे में उन्हें पता था कि ये इस शहर का, जहाँ वो पले बड़े, शिक्षा हासिल की और अपने पहले नाटक लिखे, ये उनका अंतिम सफर होगा। उन्होंने मुझ पर जोर दिया कि मैं भी उनके साथ चलूँ और मैंने भी ऐसा ही किया। और इस तरह से मुझे उनके पैतृक कस्बे के आखिरी सफर में उनके साथ जाने का एक अनोखा मगर न भूलने वाला दुखद अवसर मिला। हम लोग धारवाड़ की सुभाष रोड़ पर स्थित लक्ष्मी बिल्डिंग भी गए जहाँ उनके पुराने पब्लिशर मनोहर ग्रंथमाला का दफ्तर भी था।

कट्टरवादियों के खिलाफ मजबूती से आवाज़ बुलंद करने वाले साहसी कर्नाड एक अत्यंत विकसित सामाजिक चेतना के मालिक और अपने देश से गहरा प्रेम करने वाले व्यक्ति थे लेकिन उन्होंने अपनी देशभक्ति की नुमाइश नहीं की। उनकी गरिमा और साधुता इसकी इजाजत नहीं देती थी। वो एक बड़े साहित्यकार और उच्च कोटि के अदाकार और एक निहायत सभ्य इंसान थे। वे हिंदुस्तानी संस्कृति में इस तरह रचे-बसे थे कि आज के भारतीय संस्कृति के कथित रक्षक उसकी कल्पना तक नहीं कर सकते।

साभार : हिंदुस्तान टाइम्स

अंग्रेजी से अनुवादित

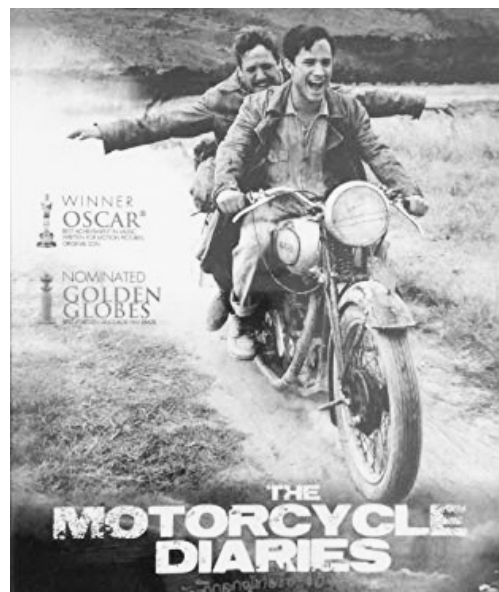
द मोटरसाइकिल डायरीज़ : चे ग्वेरा पर बनी वह फिल्म जो उनकी तरह ही कालजयी है

चे ग्वेरा के यात्रा संस्मरणों पर आधारित फिल्म
द मोटरसाइकिल डायरीज़ 2004 में रिलीज हुई थी

■ शुभम उपाध्याय

हमारे संसार में कम पन्नों में बहुत अधिक कहने वाली दो 'पतली किताबें' हरेक को पहला लम्हा फुरसत का मिलते ही पढ़नी चाहिए। भगत सिंह की 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' और चे ग्वेरा की 'द मोटसाइकिल डायरीज़'। एक बेहद पतली 30 पन्नों की निबंधनुमा किताब और एक कम मोटी ट्रैवलॉगनुमा 150 से थोड़े ज्यादा पन्नों की किताब। दोनों ही सख्त ज़मीन से उपजे ऐसे जीवन-दर्शन जो महान शख्सियतों का निर्माण कर चुके हैं और पीढ़ियों को अंधेरे के गर्त से बाहर निकालने की रोशनी समेटे हैं। भगत और चे दोनों की ही उम्र केवल 23 थी, जब उन्होंने धर्म से दूरी बनाकर अपने-अपने जीवन-दर्शन इन पन्नों पर दर्ज किए। एक मोटरसाइकिल पर लैटिन अमेरिका घूमकर मुश्किल जिंदगियों को समझ रहा था और एक इतना समझदार था कि नास्तिकता पर अब तक का सबसे खूबसूरत निबंध 23 साल की कच्ची उम्र में लिख रहा था। उम्र के इतर भी दोनों में असाधारण समानताएं मिलती हैं। दोनों ने ही सशस्त्र क्रांति के रास्ते को अपनाया। दोनों ही उम्दा लेखक थे और पढ़ना बेहद पसंद करते थे। दोनों के चेहरे प्रमुखता से मौजूदा दौर की टी-शर्टों पर नजर आते हैं और दोनों ही को आज का युवा बेहद पसंद करता है।

चे द्वारा डायरी में दर्ज किए अपने यात्रा-संस्मरणों को जिस किताब की शकल दी गई, उसकी खास बात है कि उस पर उसी नाम की आलातरीन फिल्म भी बन चुकी है। 2004 में रिलीज हुई 'द मोटरसाइकिल डायरीज़' देखना उस अलहदा एहसास



से रूबरू होना भी है जो तब होता है जब आपकी किसी पसंदीदा किताब का सुंदर रूपांतरण परदे पर नजर आता है। कई अच्छे फिल्म एडाप्टेशन की ही तरह इस फिल्म की भी खास बात है कि ये दोतरफा असर करती है। अगर आप किताब पढ़कर इस तक पहुंचते हैं तो ये चे के उस युवा जीवन-काल को परदे पर जीवंत कर आपके लिए ज्यादा प्रभावी बना देती है, और अगर आप फिल्म देखकर किताब पढ़ते हैं तो चे के अंदरूनी संघर्ष आपको बेहतर व तफसील से समझ आते हैं।

पुरस्कृत और प्रशंसित ब्राजीली निर्देशक वॉल्टर सेलस ने 'द मोटरसाइकिल डायरीज़' को स्पेनी भाषा में बनाया था (जिस भाषा का उपयोग अर्जेंटीना वासी, चे और उनके दोस्त अल्बेर्तो करते थे), और दो घंटे लंबी इस फिल्म में हमें चे के 'चे ग्वेरा' बनने से पहले की कहानी मिलती है। तब जब वे 'एर्नेस्तो ग्वेरा' थे और 1952 में अपने से उम्र में बड़े और बायोकेमिस्ट दोस्त अल्बेर्तो ग्रेनादो के साथ डॉक्टरी का आखिरी सेमिस्टर शुरू करने से पहले एक खटारा मोटरसाइकिल पर लंबे सफर पर निकले थे। दिमाग में लड़कपन वाले ही सारे ख्याल मौजूद थे और आजाद पंछी की तरह 'अपने अमेरिका' को देखने के अलावा लड़कियों के निकट आना ही प्रमुखता से उनकी बातचीत में शामिल रहता था।

दो घंटे की यह फिल्म तकरीबन एक पूरा घंटा

ही सफर में निकले दो नौजवानों की मौज-मस्तियों को समर्पित करती है। यानी उनकी बाहरी यात्रा को। ऐसा करके बहुत खूब काम भी करती है क्योंकि जब एक घंटे बाद अराजकता और अन्याय देखकर चे बदलना शुरू करते हैं तो धीरे-धीरे आ रहे बदलाव को आप क्षण दर क्षण महसूस कर पाते हैं। चे द्वारा जी जा रही खूबसूरत जिंदगी और लैटिन अमेरिकी देशों के खूबसूरत लैंडस्केपों के बीच जब वो चीजें चे देखना शुरू करते हैं जिनका यथार्थ कतई सुंदर नहीं है, तो कंटीले विरोधाभास को फिल्म मुखरता से फिल्म का परदा दे पाती है।

एक दूसरा अच्छा काम फिल्म यह करती है कि अपने नायक को जीवन के इस अध्याय के खत्म होने के आठ साल बाद क्यूबा की क्रांति से जन्मे मशहूर क्रांतिकारी 'चे ग्वेरा' की तरह पहले से ही ट्रीट नहीं करने लगती। फिल्म का नायक अंत तक संपन्न मध्यमवर्गीय परिवार से आया एक साधारण 23 वर्षीय नवयुवक बना रहता है जिसके आसपास मौजूद गरीबी, अत्याचार और भेदभाव की असंख्य कहानियां उसके अंदर धीरे-धीरे कुछ, और फिर बहुत कुछ बदलने लगती हैं।

तीन साल पहले 2001 में बेहद उम्दा मैक्सिकन फिल्म 'इ टू मामा ताम्बिन' (एंड योर मदर टू) से अंतरराष्ट्रीय ख्याति बटोर चुके मैक्सिको मूल के एक्टर गाएल गर्सिया बरनाल भी ग्वेरा के रोल में इतना सहज और नियंत्रित अभिनय करते हैं कि नायकत्व के दंद-फंद से दूर आप चे के अंदरूनी द्वंदों को गाएल के चेहरे पर आसानी से पढ़ सकते हैं। किसी अभिनेता द्वारा किरदार का बाहरी रूप धर लेना मुश्किल नहीं होता, बल्कि सबसे मुश्किल उसकी आंतरिक यात्रा को व्यक्त कर पाना होता है।

'द मोटरसाइकिल डायरीज' का आखिरी एक घंटा अंदर की इसी यात्रा को समर्पित है। और ये दुर्गम आंतरिक यात्रा है, जो ग्वेरा अकेले तय करते हैं। अर्जेन्टीना से शुरू हुआ उनका सफर चिली और ऐंडीज पर्वतों से होते हुए जब पेरू पहुंचता है तो गरीबी और असमानता से सामना होने के अलावा वे इका सभ्यता से जुड़े स्थानीय लोगों को पूंजीवादी ताकतों के हाथों दमित होते भी देखते हैं। यहीं पेरू में जब चे और उनका दोस्त माचू पिच्चू पहुंचते हैं तो निर्देशक वॉल्टर सेलस दर्शाने की कोशिश करते हैं कि पहले-पहल चे को सशस्त्र क्रांति का विचार कहां और कैसे आया होगा। 'बंदूक के बिना क्रांति संभव नहीं है', विश्व के सात अजूबों में से एक माचू पिच्चू के पत्थरों पर बैठकर चे अपने दोस्त से कहते हैं।

फिल्म इसके बाद अपने अंतिम और सबसे उत्कृष्ट हिस्से में चे को लेकर अमेजन जंगलों में मौजूद एक बस्ती में पहुंचती है। यहां चे और उनका दोस्त कुछ रोग का इलाज करने में डॉक्टरों की मदद करते हैं। यहीं पर आकर चे के अंदर की बेचैनी ठोस विचारों में तब्दील होती है और ये पूरा ही हिस्सा बेहद कुशलता से निर्देशक ने रचा है। एक तरफ

झनझनाती गिटार रिफ के बीच ब्लैक एंड व्हाइट स्थिर दृश्यों में नजर आने वाले स्थानीय लोग सीधे आपकी आंखों में झांकते हैं, तो वहीं कुछ रोग से पीड़ित स्थानीय कलाकारों का चयन फिल्म में गजब का रियलिज्म भरता है। और फिर कल-कल बहती एक नदी कैसे भेदभाव का जरिया बन जाती है, चे के अलावा हम दर्शक भी मायूस होकर देखते हैं। अंत आते-आते 'द मोटरसाइकिल डायरीज' धुंध से ढकी नदी पर लकड़ी के पट्टों पर तैरते चे को उजले भविष्य की कामना करते हुए परिचित दुनिया में वापस ले आती है। यह बताते हुए कि 10,000 किलोमीटर की इस यात्रा ने एक नौजवान को सदैव के लिए बदल दिया है। अर्नेस्तो ग्वेरा द्वारा तय की गई दुर्गम आंतरिक यात्राएं उन्हें धोकर नया आदमी बना चुकी हैं, जिसे पूरी दुनिया जल्द ही चे ग्वेरा के नाम से जानने वाली हैं।

चे ग्वेरा पर कई और भी प्रसिद्ध फिल्में बनी हैं। कई डॉक्यूमेंट्रीज में से सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रामाणिक का नाम 'चे : राइज एंड फॉल' (2007) है जिसमें चे के संपूर्ण जीवन का लेखा-जोखा है। आर्काइवल फुटेज और मौलिक तस्वीरों का उपयोग कर एक अर्जेन्टीनी निर्देशक द्वारा बनाई गई इस डॉक्यूमेंट्री में चे के युवा दिनों के दोस्त अल्बेर्तो ग्रेनादो ने भी वापसी की है और उनसे जुड़ी बातें साझा की हैं। इसकी सबसे खास बात है कि चे की मृत्यु के 30 साल बाद जब उनकी कब्र बोलीविया के जंगलों में मिली थी, तब इस डॉक्यूमेंट्री के निर्देशक ने चे की याद में क्यूबा में हुए राजकीय सम्मान का लाइव फिल्मांकन किया था। इसलिए एक तरह से यह इकलौती फिल्म है जो चे के जीवन को पूरा क्लोजर देती है।

चे जिस देश के धुर-विरोधी रहे उस अमेरिका में भी उन पर कुछ फीचर फिल्में बनीं। चे की मृत्यु के तुरंत बाद उसे भुनाने के लिए 'लॉरेंस ऑफ अरेबिया' फिल्म से ख्याति प्राप्त अभिनेता ओमर शरीफ 'चे!' (1969) नाम की फिल्म में नजर आए, जो इस क्रांतिकारी को जायज सम्मान नहीं देने की वजह से आज तक आलोचनाओं की शिकार होती है। 2008 में एक दूसरे अमेरिकी निर्देशक—लेकिन इस बार बेहतरीन निर्देशक, जो प्रयोगधर्मिता को हमेशा अवसर देते हैं—स्टीवन सोडरबर्ग ने साढ़े चार घंटे की 'चे' निर्देशित की। दो भागों में बनी इस फिल्म का पहला भाग 'द अर्जेन्टीना' पूरी क्यूबा क्रांति को समर्पित रहा और 'गुरिल्ला' नाम का दूसरा भाग बोलीविया में चे द्वारा क्रांति लाने की कोशिशों और उनकी मृत्यु को। साढ़े चार घंटे की पूरी फिल्म में चे ग्वेरा का किरदार निभाने वाले अति के शानदार अभिनेता बेनिसियो डेल तोरो को 2008 के कान फिल्म फेस्टिवल में सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार भी मिला। अगर नहीं देखी है, तो 'द मोटरसाइकिल डायरीज' देखने के बाद इस बेहद लंबी मगर बढ़िया फिल्म को भी जरूर देखिए।

एक मां की यह फेसबुक पोस्ट याद दिलाती है कि 90% के दबाव से बच्चों की आजादी कितनी जरूरी है

इसी साल सीबीएसई ने भी अभिभावकों के नाम एक चिट्ठी जारी की थी। इसके शब्द थे, हम आपसे गुज़ारिश करते हैं, आप अपने बच्चे को बताएं कि आपको उस पर कितना गर्व है।

■ प्रदीपिका सारस्वत

बीती छह मई को केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सीबीएसई) ने दसवीं के नतीजे घोषित किए। हर साल जब ये नतीजे आते हैं तो कहीं न कहीं हम सभी को अपना वक्त याद आ जाता है। यह मानने में हमें कोई गुरेज नहीं होना चाहिए कि हममें से ज्यादातर लोगों ने 80 या 90 फीसदी के ऊपर के आंकड़े नहीं छुए होंगे। ऐसे में हममें से कइयों को वह निराशा और शर्म भी याद आ जाती होगी जो कम अंकों के चलते हमारे मां-बाप, रिश्तेदारों और साथियों ने हमें महसूस

करवाई थी, या फिर सिस्टम पर खीज भरा वह गुस्सा कि जितना बना कर लिया, इससे ज्यादा हमसे नहीं होना था। वह निराशा, शर्म या फिर वह गुस्सा हमारे उन नन्हें दिमागों के लिए कितना नुकसानदेह था, यह बात न तो हम उस वक्त जानते थे और न शायद हमारे माता-पिता।

स्थितियां अब भी बहुत नहीं बदली हैं। दिल्ली की एक मां वंदना सूफिया कटोच ने छह मई को अपने बेटे के नाम एक फेसबुक पोस्ट लिखी जो खूब वायरल



हुई। इस पोस्ट ने हमें दो चीजें याद दिलाई। एक तो यह कि आज भी हिंदुस्तानी बच्चों पर 90 फीसदी नंबर लाने का दबाव कम नहीं हुआ है। दूसरी यह कि इस दबाव से बच्चों को आजाद करना कितना जरूरी है। जिस तरह से तमाम अभिभावकों ने उनकी पोस्ट को शेयर किया, उस पर कमेंट किए, उसके बारे में लिखा, यह साफ जाहिर हुआ कि इस बारे में न सिर्फ बात करने की, बल्कि इस दबाव को कम करने की दिशा में कदम उठाए जाने की भी कितनी जरूरत है।

वंदना ने लिखा, 'दसवीं में 60 फीसदी लाने वाले अपने बच्चे पर मुझे गर्व है। हां, ये 90 नहीं है, पर इससे मेरी भावनाओं में कोई अंतर नहीं आता। वजह इतनी सी है कि मैंने कुछ विषयों में उसे लगभग हार जाने की हद तक जद्दोजहद करते देखा। पर उसने हार नहीं मानी और आखिरी डेढ़ महीने में खुद को पूरी तरह झोंक कर वो यहां तक पहुंचा। आमेर, ये तुम्हारे लिए है। और तुम्हारी जैसी उन सब मछलियों के लिए जिन्हें पेड़ पर चढ़ने को कह दिया जाता है। मेरे बच्चे, इस बड़े, विशाल समुद्र में अपना रास्ता खुद बनाओ। और अपनी स्वाभाविक अच्छाई, जिज्ञासा और बुद्धिमत्ता को जिंदा रखो। और अपने नटखट मजाकिया अंदाज को भी।'

एक मां का 60 फीसदी अंक लाने वाले अपने बच्चे के लिए ऐसा लिखना सचमुच 'हवा के ताजा झोंके' जैसा था, जैसा कि उनकी पोस्ट पर किसी अन्य अभिभावक ने लिखा। वंदना ने अंग्रेजी दैनिक 'द हिंदू' को बताया कि नतीजे आने के बाद जब वे अपने बेटे को लेने गईं तो वह महसूस कर रहा था कि उसके रिजल्ट में गर्व करने जैसा कुछ भी नहीं था। इसके जरिए उन्होंने अपने बेटे को उस पहाड़ की ऊंचाई दिखाने की कोशिश की जिसे पार कर वह यहां तक पहुंचा था।

स्कूली बच्चों के साथ काम करने वाली संस्था उपक्रम के सह-संस्थापक निखिल शेड्टी इस बारे में कहते हैं, 'एक बच्चा, चाहे वो किसी भी क्लास या फिर उम्र के किसी भी पड़ाव पर क्यों न हो, वो उम्मीद करता है कि उसके करीबी लोग उसे समझें, उसमें भरोसा रखें। अगर परिवार के लोग बच्चे के खराब या उम्मीद से कम प्रदर्शन पर उसे डांटने या दूसरों से नीचा दिखाने की बजाय उसकी चुनौतियों को समझ कर, उसे सहारा देते हैं तो वो अपनी बेहतरी पर ज्यादा अच्छी तरह काम कर पाता है।'

हम सभी जानते हैं कि किसी भी बच्चे के विकास में उसकी परवरिश की भूमिका सबसे बड़ी होती है। अलीगढ़ के रितेश शर्मा अपना अनुभव साझा करते हुए बताते हैं कि दसवीं में 52 परसेंट मार्क्स लाने पर उनके पिता ने उन्हें बहुत मारा था। मां ने भी उनसे बात नहीं की। वे कहते हैं, 'मैं कभी पढ़ने में बहुत तेज नहीं था। मुझे क्रिकेट और फुटबॉल खेलने का शौक था। दसवीं के पेपरों से तीन-चार महीने पहले घर में बिलकुल कर्फ्यू लगा दिया गया। मुझे न

खेलने जाने दिया जाता, न दोस्तों से मिलने-जुलने। जब रिजल्ट आया तो मुझे लगा कि दुनिया खत्म हो गई है। दो-तीन दिन तक खाना-पीना छोड़ने और कमरे में बंद रहने के बाद मैं घर छोड़कर चला गया।'

हालांकि रितेश को कुछ दिनों बाद तलाश लिया गया लेकिन वे मानते हैं कि उन दिनों वे इतने निराश थे कि उनके साथ कुछ भी हो सकता था। घर आने के बाद भी उनके प्रति उनके परिवार के रवैये में कोई बदलाव नहीं आया, बल्कि उन्हें और ज्यादा कमजोर और गैरजिम्मेदार माना जाने लगा। रितेश बताते हैं, 'इस बात को 17 साल बीत चुके हैं लेकिन मैं आज भी उसका असर अपने भीतर के गुस्से में महसूस करता हूँ।'

दसवीं क्लास हमारे करियर के लिहाज से सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण होती है। इसके नतीजे के दम पर ही हम अपनी पसंद के विषय चुन सकते हैं और आगे उन विषयों के दम पर अपनी पसंद का करियर। यहां शिक्षक और माता-पिता की यह इच्छा जायज है कि बच्चे इस परीक्षा में इतने अच्छे अंक ले ले आए कि आगे उन्हें किसी किस्म की परेशानी न हो, उनकी नींव मजबूत रहे। पर अक्सर वे अपने बच्चों के परीक्षाफल को अपनी प्रतिष्ठा से जोड़कर भी देखते हैं। वे तुलना करते हैं कि फलों के बच्चे के इतने अच्छे नंबर आए और उनका बच्चा पीछे रह गया। ऐसा करने वाले अभिभावक अक्सर यह नहीं सोच पाते कि शायद जिस बच्चे के अधिक अंक आए हैं उसके माता-पिता ने उसे ज्यादा अच्छी तरह समझते हुए, उसे पढ़ाई और बाकी चीजों के लिए ज्यादा बेहतर वातावरण दिया होगा। माता-पिता के बच्चों के प्रति व्यवहार के महत्व को समझते हुए सीबीएसई ने भी इस साल फरवरी में अभिभावकों के नाम एक चिट्ठी जारी की थी। इसमें कहा गया था, 'हम आपसे गुजारिश करते हैं, आप अपने बच्चे को बताएं कि आपको उस पर कितना गर्व है।'

तमाम शोध बताते हैं कि बच्चों को डांटते रहना या बाकी बच्चों से उसकी तुलना करने का सीधा मतलब है उसे खुद से दूर ढकेलकर अकेला कर देना। ऐसी स्थिति से गुजर रहा बच्चा न सिर्फ मां-बाप से झूठ बोलना और बातें छुपाना शुरू कर देता है, बल्कि वह आसानी से गलत संगत का शिकार भी बन सकता है। इसके अलावा इसका सबसे बुरा असर बच्चे के स्वाभिमान पर पड़ता है और बहुत बार वह खुद पर से भरोसा खोने लगता है। इस स्थिति में पहुंच चुके बच्चे को बेहतर प्रदर्शन के लिए और अधिक डांटना और बेइज्जत करना उसे किस हद तक प्रताड़ित करने के बराबर है, यह हम बड़े तभी समझ सकते हैं जब हम उनके बढ़ते जूतों में पैर रखकर देखें।

आदिवासी जो जुटे है धरती को बचाने में

बड़े शहरों में रहने वाले लोग प्रकृति से मिलने वाली चीज़ों का सबसे ज्यादा इस्तेमाल करते हैं और यही वो लोग हैं जो प्रकृति के साथ खिलवाड़ करते हैं।

अगर कुदरत को बचाने का काम कोई करता है तो वो हैं इसके नजदीक रहने वाले लोग। खास तौर से पहाड़ों में रहने वाले लोग। वो प्रकृति को अपनी मां का दर्जा देते हैं तभी तो वो इसे संजोने की हर संभव कोशिश करते हैं।

शहरों से दूर प्रकृति की गोद में रहने वाले आदिवासियों की ज़िंदगी कुदरत की नेमतों पर निर्भर होती है। इसीलिए वो इसकी हिफाजत जी-जान से करते हैं।

लैटिन अमरीकी देश कोलंबिया के अरहुआको समुदाय के लोग, प्राचीन काल से अमरीकी महाद्वीप में रहते आए हैं। यूरोपीय उपनिवेशकों के आने के बाद ये समाज के हाशिए पर धकेल दिए गए। इन्हें जंगलों और पहाड़ियों के बीच पनाह लेनी पड़ी।

आज अरहुआको समुदाय के लोग कोलंबिया के जंगली इलाकों में गुजर-बसर करते हैं। वो खुद को प्रकृति का संरक्षक मानते हैं। ये लोग कोलंबिया की

सिएरा नेवादा सैंटा मार्टा की पहाड़ियों के बीच रहते हैं।

अरहुआको समुदाय का संबंध कोगी, वीवा और मलायो समुदाय से है। बताया जाता है कि इन तीनों समुदायों के पूर्वजों का संबंध लैटिन अमरीका पर पहले राज करने वाली टाइरोना सभ्यता से है। कहा तो ये भी जाता है कि सोलहवीं सदी में स्पेन के उपनिवेशकों ने इन समुदायों को खत्म कर दिया था। जो बाकी बचे थे वो अपनी जान की हिफाजत के लिए सिएरा नेवादा सैंटा मार्टा की पहाड़ियों में चले गए थे।

दुनिया की सबसे ऊंची माउंटेन रेंज

इन पहाड़ों को दुनिया की सबसे ऊंची माउंटेन रेंज कहा जाता है। ये इलाका कोलंबिया के कैरेबियाई तट से ऊपर की तरफ बढ़ता चला जाता है। ये ऐसा इलाका है, जिसका इकोसिस्टम बिल्कुल जुदा है। यहाँ बारिशों वाले जंगल भी हैं और बर्फ से ढंकी चोटियाँ भी। लगातार बारिश झेलने वाले समुद्री तट भी हैं, तो



सूखे पहाड़ी इलाके भी।

यूनेस्को ने साल 1979 में इस पहाड़ी सिलसिले को बायोस्फेयर रिजर्व ऑफ मैन एंड ह्यूमैनिटी का नाम दिया था। 2013 में साइंस पत्रिका ने इसे दुनिया का कभी ना बदलने वाला इको-सिस्टम माना है।

इस पहाड़ी इलाके में रहने वाले तीनों आदिवासी समुदायों के लोग खुद को प्रकृति का बड़ा भाई बुलाते हैं। इन तीनों समुदायों की कुल आबादी 90 हजार है। मेमोस नाम के रूहानी पेशवा इन तीनों समुदायों की अगुवानी करते हैं। यहां के लोग प्रकृति की पूजा करते हैं और जो लोग मेमोस बनना चाहते हैं, उन्हें भरी जवानी में ही दुनियादारी वाला जीवन त्यागकर रूहानी तालीम हासिल करने के लिए ट्रेनिंग लेनी पड़ती है।

मेमोस बनने के लिए बचपन से लेकर जवान होने तक ट्रेनिंग चलती है। ग्रह-नक्षत्रों से सीधे संपर्क साधना ट्रेनिंग का अहम हिस्सा है। इन्हें लगता है वो तमाम ग्रहों से बात करके हर मसले का हल निकाल सकते हैं। टाइरोना हेरिटेज ट्रस्ट के संस्थापक और डॉक्यूमेंट्री फिल्मकार अलान इराईरा का कहना है कि मेमोस बनने की ट्रेनिंग में हर जीव की जिंदगी में संतुलन के साथ रूहानी दाई का किरदार निभाने के तरीके सिखाए जाते हैं।

मानव वैज्ञानिक वेड डेविड ने लंबा अरसा अरहुआको समुदाय के बीच गुजारा है उनका कहना है कि जिस पहाड़ी इलाके में अरहुआको समुदाय के लोग रहते हैं वहां तक पहुंचना आसान नहीं है। लगभग पांच सदियों से ये लोग यहां ऐसे ही अलग-थलग रहकर जिंदगी गुजार रहे हैं। बाहरी लोगों के अतिक्रमण से अपने इलाके की हिफाजत बखूबी करते हैं।

पिछले कुछ दशकों से कोलंबिया हिंसा और बगावत की उठा-पटक का शिकार रहा है। तमाम समूहों के बीच गोलीबारी का असर अरहुआको पर भी पड़ा है। अरहुआको को गुमशुदा आदिवासी कहा जाता है। अपने एकाकीपन के बावजूद ये लोग इंसान के कल्याण के लिए कुदरत और ब्रह्मांड के बीच तालमेल बनाए रखने लिए अथक प्रयास करते हैं। इस काम को अपनी जिम्मेदारी समझते हैं।

तीन दशक पहले सिएरा नेवादा सैंटा मार्टा के ऊपरी हिस्सा की बर्फ पिघलने लगी तो यहां के स्थानीय लोगों को चिंता हुई। पानी के सोते, मैदान और जंगली इलाके सूखने से तितलियां गायब होने लगीं। यहां के लोगों को चिंता होने लगी कि जलवायु परिवर्तन का असर अब इनके इलाके में भी नजर आने लगा है। उन्होंने सरकारी स्तर पर अपनी मौजूदगी दर्ज कराने के लिए अपनी संस्था बनाई।

फिल्मकार इराईरा का कहना है कि यहां के लोगों को डर

सताने लगा था कि अभी तक उन्होंने धरती को बचाने के जो भी प्रयास किए हैं वो सभी बेकार चले जाएंगे। मेमोस ने अपने लोगों को मनाया कि उन्हें अपनी कोशिशें दूसरों तक पहुंचानी होंगी लिहाजा उन्होंने इराईरा को फिल्म बनाने के लिए बुलाया। फिल्म का नाम था, फ्रॉम द हार्ट ऑफ़ दी वर्ल्ड द एल्डर ब्रदर्स वॉर्निंग। दो दशक बाद उन्होंने एक बार फिर इसी फ़िल्म का सीक़ल बनाने के लिए बुलाया।

सिएरा नेवादा सैंटा मार्टा के पहाड़ों में रहने वाले तीनों समुदायों का अलग-अलग हिस्सों में कब्ज़ा है। कोगी समुदाय का उत्तरी हिस्से में है। वीवा समुदाय का दक्षिण-पश्चिमी हिस्से में कब्ज़ा है। जबकि, अरहुआको समुदाय के पास सिएरा नेवादा सैंटा मार्टा पहाड़ी सिलसिले का सबसे बड़ा हिस्सा है।

1983 में इनके इलाके को कोलम्बिया सरकार से मान्यता भी मिल गई थी। यहां इस आदिम समुदाय के लोगों को स्वायत्तता हासिल है। इनके इलाके की राजधानी का नाम नबुसिमेक है। यहां बाहरी लोगों को आने की इजाजत नहीं है। कुछ खास लोग ही यहां आ सकते हैं। यहां तक कि राजधानी के दरवाजे पर ही बोर्ड चस्पान है, जिस पर लिखा है “बाहरी लोगों का यहां आना मना है।” यहां फोटोग्राफी की भी इजाजत नहीं है।

बदलते वक्त के साथ अब इन लोगों ने भी खुद को बदल लिया है। अपने इलाके की बहुत सी जगहों पर अब बाहरी लोगों को आने की इजाजत मिल गई है। इसका मकसद टूरिज़्म को बढ़ाना भी है। और, अरहुआको समुदाय के लोगों का हुनर दूर तक पहुंचाना भी है। 1995 के बाद से इस समुदाय के लोगों ने आपसी मेल-जोल से कई सहकारी संस्थाएं बना ली हैं। ये लोग ऑर्गेनिक कॉफी पैदा करके निर्यात करते हैं। जब कॉफी का मौसम नहीं होता तो ये लोग कॉफी का विकल्प कोकोआ बेचते हैं। यहां के रूहानी नेता और इजक्रार्डो ने निर्यात बढ़ाने के मकसद से स्थानीय स्तर पर ऑर्गेनिक ब्राउन शुगर की खेती को बढ़ावा दिया है। इसे लोकल जबान में पनेला कहते

इजक्रार्डो का कहना है कि वो खेती में किसी भी तरह के खतरनाक कीटनाशकों का इस्तेमाल नहीं करते, क्योंकि वो धरती मां को नुकसान नहीं पहुंचाना चाहते। साथ ही उनका मकसद दुनिया को बताना है कि धरती मां को नुकसान पहुंचाए बिना कैसे खेती की जा सकती है। वो इसके अलावा अपनी संस्कृति और कला को भी प्रमोट करना चाहते हैं। कैश इकॉनोमी का साथ मिलने से जहां इस समुदाय का कल्याण हुआ है। वहीं, इन्हें अपनी इलाके को संजोने में भी मदद मिली है।

साभार : बीबीसी

रज पर्व : रजस्वला महिलाओं को अछूत बनाने के बजाय उनकी इसी खासियत को मनाने वाला अनोखा उत्सव

ओडिशा में हर साल चार दिन लंबा माहवारी उत्सव - रज पर्व - मनाया जाता है. इस साल यह त्यौहार 15 जून से शुरू होकर 18 जून तक चलने वाला है.

■ अंजलि मिश्रा

देश के ज्यादातर हिस्से जहां आज भी माहवारी से जुड़े मिथकों से नहीं छूट पाए हैं, वहीं एक राज्य ऐसा भी है जो इसे उत्सव की तरह मनाता है। ओडिशा में हिंदू चंद्र कलेंडर के अनुसार ज्येष्ठ महीने की त्रयोदशी (शुक्ल पक्ष की तेरह तारीख) से आषाढ़ महीने की प्रतिपदा (कृष्ण पक्ष की पहली तारीख) तक चार दिन लंबा माहवारी उत्सव मनाया जाता है। इसे 'रज पर्व' कहा जाता है। यहां पर रज शब्द रजस्वला होने से लिया गया है और इसी वजह से यह पर्व चार दिन तक चलता है।

इस उत्सव के पहले दिन को पहली रज कहा जाता है, दूसरे दिन को मिथुन संक्रांति और तीसरे दिन को बासी रज। रज पर्व के आखिरी दिन को बासुमती स्नान कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस उत्सव के पहले तीन दिनों के दौरान धरती यानी भूदेवी अपने मासिक चक्र से गुजरती है। चौथा दिन यानी आषाढ़ का पहला दिन—जिससे बारिश की शुरूआत भी मानी जाती है—उसके स्नान करने का समय होता है। इस उत्सव के दौरान खेती-किसानी का कोई काम नहीं किया जाता है।

इस पर्व को मिथुन संक्रांति के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि पर्व के खत्म होने के बाद सूर्य मिथुन राशि में प्रवेश करता है। यानी कि सूर्य कलेंडर के हिसाब से तब मिथुन का

महीना शुरू हो जाता है। रज पर्व को मनाए जाने का समय मानसून के आने का समय भी होता है। इस दौरान खेती-किसानी के काम शुरू किए जाते हैं और माना जाता है कि धरती बारिश के साथ मिलकर उत्पादन करने के लिए खुद को तैयार करती है। रज पर्व के दौरान राज्य भर में महिलाएं और लड़कियां नए कपड़े खरीदती हैं और मेंहदी, कुमकुम, आलता लगाकर इसे मनाती हैं। इस पर्व को मनाने के लिए ज्यादातर घरों में झूला भी डाला जाता है और महिलाएं इन पर झूलते हुए पारंपरिक गीत गाती हैं। विख्यात कलाकार सुदर्शन पटनायक ने इसे अपनी रेत की कलाकृति में भी दर्शाया है। इस दौरान आधी रात तक लूडो, ताश जैसे खेलों के साथ-साथ बागुड़ी या बोहु चोरी जैसे स्थानीय खेल खेलने की भी परंपरा है।

कुछ समय पहले शहरों में यह परंपरा धीरे-धीरे घटने लगी थी। लेकिन सोशल मीडिया और राज्य सरकार के प्रयासों की वजह से अब यह त्यौहार फिर से चर्चा बटोरने लगा है। ऐसी सांस्कृतिक धरोहर को बनाए रखने के लिए ओडिशा की तारीफ की जानी चाहिए। इसलिए भी कि इस तरह के उत्सव माहवारी जैसे विषय को हमारी संस्कृति का हिस्सा बनाकर समाज को इनके प्रति सहज बनाने का काम कर सकते हैं।

साभार

हम एक बहुत बोलने और बहुत कम विचार करने वाला समाज बन रहे हैं

हमारी असंवेदनशील भाषा में सब कुछ एक कांड है - तंदूर कांड, निठारी कांड, कठुआ कांड, अलीगढ़ कांड. ये कांड आते-जाते रहते हैं और हम बहस का कारोबार चलाते रहते हैं.

■ प्रियदर्शन

कठुआ में बलात्कार झेलने वाली बच्ची के बारे में मैंने नहीं लिखा। अब भी उसका नाम लेते हुए जीभ और लिखते हुए कलम दोनों सिहर उठती हैं। अलीगढ़ में भी बुरी तरह मारी गई बच्ची के बारे में लिख पाना संभव नहीं हो सका। हमारे समाज की ऐसी और भी वीभत्सताएं रहीं जिनके बारे में लिखना स्थगित होता रहा। ऐसे हादसे कुछ लोगों को अक्सर चुप कर देते हैं।

तो क्या ऐसे लोग उनके मुकाबले कुछ कम संवेदनशील होते हैं जो ऐसी घटनाओं के विरोध में तत्काल कलम लेकर उठ खड़े होते हैं? क्या मैं उन फिल्मी सितारों से गया-गुजरा हूँ जो ऐसे वीभत्स अपराधों के गुनहगारों को सरेआम फांसी पर लटका देने की वकालत कर रहे हैं? ऐसा क्या है जो वे देख ले रहे हैं और मुझसे अनदेखा रह जा रहा है? नफरत का वह आवेग मेरे भीतर पैदा क्यों नहीं हो पाता जो ऐसे मामलों में दूसरों के भीतर दिखता है?

यहां उन लोगों की बात नहीं हो रही है जो किसी भी बलात्कार, उत्पीड़न या यंत्रणा में पहले अपना पक्ष चुनते हैं और उसके अनुकूल अपनी प्रतिक्रिया देते हैं। कठुआ में भी ऐसे लोग सक्रिय थे और अलीगढ़ में भी। यहां उन लोगों की बात हो रही है जो कठुआ के समय भी रोए, अलीगढ़ के समय भी रो रहे हैं और जिन्होंने 16 दिसंबर 2012 को दिल्ली में निर्भया के साथ हुई ज़्यादती पर भी ईमानदारी से आवाज उठाई थी।

दरअसल संवेदना भी हमारे सामाजिक

पर्यावरण और अनुकूलन की देन होती है। बहुत सारे बड़े-बड़े अन्यायों और बहुत गहरी असमानताओं के प्रति हम बहुत असंवेदनशील हो सकते हैं, जबकि बहुत सारी छोटी-छोटी नाइंसाफियां हमें भीतर से छील कर रख देती हैं। मार्टिन लूथर किंग जूनियर का यह प्रसिद्ध वाक्य हम अक्सर भूल जाते हैं कि कहीं भी चल रहा छोटा सा अन्याय दुनिया भर के न्याय के लिए खतरा होता है।

हमारे चारों तरफ यंत्रणा, उत्पीड़न, बलात्कार और अन्याय की अनगिनत कहानियां छिंटी-बिखरी पड़ी रहती हैं। लेकिन हम इनसे लगातार आंखें मूंदे रहते हैं। फिर अचानक किसी एक घटना के प्रति हम ऐसे उत्तेजित दिखाई पड़ते हैं जैसे हम जीवन में कोई भी अन्याय होने नहीं देंगे। यह याद करना बहुत तकलीफदेह है—लिखना शायद उससे भी ज़्यादा— कि हमारे देश में हर घंटे औसतन तीन बलात्कार होते हैं। यानी जब यह टिप्पणी लिखी जा रही है या जब कोई पाठक इसे पढ़ रहा है तब भी कहीं न कहीं कोई लड़की सताई जा रही होगी।

16 दिसंबर 2012 की घटना हो या कठुआ वाली घटना या फिर अलीगढ़ वाला मामला—तीनों के आरोपी बहुत जल्दी पुलिस की गिरफ्त में आ गए। 2012 वाली घटना के आरोपियों को फांसी तक की सज़ा सुनाई जा चुकी है। अलीगढ़ में कई पुलिस वाले ढिलाई के आरोप में निलंबित किए जा चुके हैं। कठुआ के मामले को दुर्भाग्य से कुछ

अतिरिक्त राजनीतिक और सांप्रदायिक रंग दिया गया, लेकिन इस मामले में भी छह लोगों को दोषी ठहराया जा चुका है। इन तीनों मामलों में कानून-व्यवस्था की प्रक्रिया उन दूसरे हज़ारों या लाखों मामलों से कहीं ज्यादा चुस्त, तेज और मुस्तैद चली है जिनके अदालत तक पहुंचने में ही कई साल लग जाते हैं।

लेकिन इन मामलों में भी अगर किसी करोड़पति या अरबपति का बेटा या कोई रसूखदार आदमी शामिल होता तो क्या उसे सजा दिलवाना आसान होता? इस देश के सबसे बड़े वकील सबसे ज्यादा पैसे वालों पर लगे आरोपों के बचाव के लिए हाथ बांध कर खड़े रहते हैं। तब इस समाज की न्याय बुद्धि कुंद पड़ती दिखाई पड़ती है। आसाराम बापू और उसके बेटे जैसे व्यभिचार और अत्याचार के आरोप झेल रहे लोगों के वकीलों की सूची देखकर हैरानी होती है। राम जेठमलानी, सुब्रह्मण्यम स्वामी, सलमान खुर्शीद और केटीएस तुलसी जैसे वकील अलग-अलग मौकों पर इनके लिए खड़े हो चुके हैं। जैसिका लाल को मारने के जुर्म में उम्रकैद काट रहे मनु शर्मा के लिए भी राम जेठमलानी खड़े हुए थे।

अलीगढ़ मामले में आरोपियों को सरेआम फांसी पर लटकाने की मांग कर रहे हमारे बड़े-बड़े कलाकारों के ट्वीट देखकर यह लगता है कि उन्हें शायद न्याय की चिंता नहीं है। उन्हें प्रतिशोध भी नहीं लेना है। उन्हें बस यह दिखाना है कि वे न्याय के साथ खड़े हैं। न्याय के साथ खड़े होने का दिखावा बहुत खतरनाक किस्म के अन्यायों का जनक होता है, शायद वे यह नहीं जानते। मुश्किल यह है कि इतना ही आवेग उनमें एक घंटे में तीन की दर से होने वाले दूसरे मामलों के प्रति नहीं दिखता।

कठुआ हो या अलीगढ़ या फिर हमारे समाज में बच्चों, महिलाओं या कमजोरों के साथ लगातार हो रहे तरह-तरह के अन्याय और उत्पीड़न—ये सब हमारे रुग्ण होते, बीमार पड़ते, समाज की सूचना हैं। यह एक सामाजिक बीमारी है जिसके स्रोत लगातार अमानवीय होती जा रही हमारी व्यवस्था में हैं। इस व्यवस्था में बराबरी के लिए, न्याय के लिए, मनुष्यता के लिए, असहमति के लिए, संस्कृति के लिए जगह घटती जा रही है। एक खाया-पिया-अघाया समाज है जिसके मनोरंजन के स्रोत भी उतने ही सतही और अमानवीय होते जा रहे हैं।

जो फिल्मी सितारे अलीगढ़ को लेकर आंसू बहा रहे हैं, वे यह नहीं देखते कि उनके पूरे फिल्मोद्योग ने स्त्री को पहले देह में और फिर वस्तु में बदल डाला है। वह अपने दर्शकों को ज्यादातर ऐसी काल्पनिक कहानियों की खुराक देता है जिसमें खलनायक नायिकाओं का उत्पीड़न करते हैं और नायक उन्हें बचाते हैं। बेशक

हाल में इस चलन में एक बदलाव भी दिख रहा है, लेकिन अंततः मुख्यधारा के हिंदी सिनेमा ने स्त्री को पीड़ित और शिकार में बदला है, सहज व्यक्ति नहीं रहने दिया है। यही नहीं, न्याय की उसकी अवधारणा भी बस प्रतिशोध की अवधारणा है या फिर किसी एक व्यक्ति के पराक्रम की। जाहिर है, हमारे फिल्मी कलाकारों की ही नहीं, हमारी फिल्मों की भी लोकतांत्रिक समझ दयनीय है।

अलीगढ़ के मुजरिमों को सजा मिलनी ही चाहिए। वह मिलेगी भी। लेकिन अलीगढ़ का मामला एक समाज के भीतर जिस सदमे, जिस आत्मालोचना का सबब बनना चाहिए, वह नहीं बन पाएगा। क्योंकि अलीगढ़ को लेकर एक दिखाऊ किस्म की भावुकता का बाजार बनाया जा चुका है। आज के मीडिया को भी यही बाजार रास आता है। अलीगढ़ के बाद सभी चैनल चार मेहमानों को बुलाकर, महिला उत्पीड़न और बलात्कार के आंकड़े जुटा कर, यह बताते हुए कि हमारे यहां दोषसिद्धि का प्रतिशत कितना कम है, बहस कराने में जुटे हुए हैं। इसमें समाज की टूटन के नाम पर चंद जुमले हैं या फिर पुलिस और प्रशासन के नाम लगाए जा रहे आरोप हैं।

हमारे समाज में टूटन और दरार बढ़ रही है, यह समझने के लिए किसी कठुआ या अलीगढ़ जैसी वीभत्स घटना की जरूरत नहीं है। हमारे परिवार लगातार टूटते जा रहे हैं, हम बहुत आक्रामक भाषा बोलने लगे हैं, बहुत उथली भावुकता से भरी फिल्में देखने लगे हैं, नकली देशभक्ति और धार्मिकता को मूल्य मान कर चल रहे हैं, संबंधों और सरोकारों का स्थायित्व खत्म हो चुका है, किसी भी संकट या सवाल के ब्योरों में जाना हम छोड़ चुके हैं। हमारी असंवेदनशील भाषा में सब कुछ एक 'कांड' है—तंदूर कांड, निठारी कांड, कठुआ कांड, अलीगढ़ कांड। ये कांड आते और जाते रहते हैं, हम बहस का कारोबार चलाते रहते हैं। इससे हमारा दिखावा और धंधा भले चलता हो, न्याय का लक्ष्य हासिल नहीं होता।

हम एक बहुत बोलने, और बहुत कम विचार करने वाले समाज में बदलते जा रहे हैं। हमारे भीतर न्याय की इच्छा नहीं। फैंसला सुनाने का उतावलापन है। और यह हमारा एक सामाजिक अपराध-बोध है जो अक्सर दूसरों को सजा देने निकल पड़ता है। ध्यान से देखें तो बर्बरों की तरह इंसाफ़ करने के लिए निकल रहे हम इंसानियत के इम्तिहान में ही नाकाम हो रहे हैं। हमारे अवचेतन में सक्रिय एक सामूहिक हीनता ग्रंथि हमें और हिंसक बना रही है और हम कुछ कम मनुष्य होते चले जा रहे हैं।

साभार : सत्याग्रह

क्वीन हरीश : एक मर्द जो औरत बना और उसकी संपूर्णता में समा गया

■ माधव शर्मा

ठेठ राजस्थानी लिबास में लचकता एक छरहरा बदन, गालों तक लटकी लटें, तीखे नैन-नक्श, सुर्ख लिपस्टिक से सने होठ, गले में दमकते गहने और सिर पर दसियों चरी (पानी भरने के कलश) रख खड़ताल की आवाज पर अपनी कटीली आईब्रोज को मटकाती एक खूबसूरत 'औरत' को लोग जब मंच पर देखते थे तो किसी के बताने पर ही पता चलता था कि दरअसल ये एक मर्द है।

जो पहली बार देखते हैरत से देखते रहते और उनमें से कई उसे फिर से देखने के लिए जैसलमेर तक का सफर किया करते। अपने जिस्म की लचक और चुलबुले अंदाज से लोगों को जैसलमेर तक का सफर कराने वाला ये हसीन मर्द हमसे महज 38 साल की उम्र में विदा लेकर एक लंबे सफर पर निकल गया।

गम के इस तूफान में इस 'औरत' का जाना राजस्थान के धोरों (रेत के पहाड़) से एक ऐसे टीले का उड़ जाना है जो अगली किसी सुबह कहीं और जाकर नहीं बैठेगा।

हरीश कुमार को हम 'क्वीन हरीश' ही लिखें तो शायद ये उनकी आत्मा को शांति देने का अच्छा तरीका होगा। ऐसा इसीलिए क्योंकि हरीश शारीरिक तौर पर भले ही एक मर्द थे लेकिन नृत्य के दौरान महिला वेश-भूषा की दी हुई पहचान का ही असर था कि आम दिनों में भी वह 'क्वीन हरीश' लिखी टी-शर्ट पहना करते थे और इसी टी-शर्ट को पहन वह नृत्य सिखाया करते थे।

जैसलमेर जैसे गरीब और अनपढ़ जिलों में जहां महिलाओं को आज भी अपने बुनियादी अधिकारों

का पता नहीं है, वहां हरीश ने एक ऐसी महिला को अमर कर दिया है जो दरअसल मर्द है।

हरीश का औरत बनकर नाचना शुरुआत में भले उनकी मजबूरी रही हो लेकिन ऐसे कलाकारों का कभी समाज के विकास और उनकी कला के माध्यम से नौजवानों पर हो रहे मनोवैज्ञानिक असर के योगदान का अध्ययन होना ही चाहिए कि औरतों के लिए लगातार बदरंग और खुरदुरी होती दुनिया में एक लड़के का लड़की बन जाना कितना अप्रत्याशित है?

किसी लड़के के लिए यह कितना मुश्किल या आसान रहा होगा कि वह अपनी शारीरिक प्रकृति के खिलाफ जाकर अपने डांस से मंच पर एक ऐसा जादूई संसार की रचना कर रहा है जो उसके जाने के बाद भी उसी में फंसता दिखाई दे रहा है। कहते हैं कि अकेले जापान में 'क्वीन हरीश' के दो हजार से ज्यादा शिष्य हैं।

इससे भी बड़ा कमाल है कि सामंती और मर्दवादी राजस्थानी समाज ही नहीं पूरे देश ने हरीश को औरत के वेश में सिर-माथे पर लिया। कमाल इसीलिए भी कि लोक कलाकारों के लिए प्रसिद्ध पश्चिमी राजस्थान से बहुत कम महिला लोक गायकों और नृत्यांगनाओं को हम आज मंचों पर देख रहे हैं।

केसरिया बालम गीत को हिंदी सिनेमा की मशहूर आवाजों के अलावा हाल ही के दिनों में किस लोक गायिका ने गाया है जो राजस्थान से ताल्लुक रखती है? अगर हैं भी तो उन्हें वो रुतबा नहीं मिला जो बीते कुछ सालों में राजस्थान के मर्द लोक कलाकारों के हिस्से आ रहा है।

यह बात दीगर है कि राजस्थान की पहचान बने इस गीत को धोरों की आवाज़ अल्लाह जिलाई बाई ने गाकर मरु प्रदेश में स्वागत का आधिकारिक गीत बना दिया था।

जैसलमेर के मांगणियार कलाकार देबू खान क्वीन हरीश को याद करते हुए कहते हैं, 'वो एक गरीब परिवार में पैदा हुआ, कारपेंटर का काम किया, पोस्ट ऑफिस में भी काम किया और इतने के बाद भी कड़ी मेहनत से डांस सीखा। हरीश का जाना हमारी आत्मा का चले जाना है। यह अद्भुत ही है कि एक लड़के ने मजबूरी में लड़की बनकर नाचना शुरू किया और इतना मशहूर हो गया कि पूरा देश उसे याद कर रहा है।'

देबू खान आगे कहते हैं, 'हरीश का डांस बिजली की तरह था। उनकी कला का ही जलवा था कि 60 देशों में हरीश परफॉर्म कर चुके थे और यहां भी कई देशों के बच्चे उनसे सीख रहे थे।'

जैसलमेर के प्रसिद्ध लोक कलाकार और हरीश के साथ कई शो कर चुके दारे खान कहते हैं, 'हरीश सुथार जाति से ताल्लुक रखते थे इसीलिए उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि कलाकार की नहीं थी। उन्होंने अपने शौक से ही डांस सीखा था। मांगणियार जाति के लोगों ने हरीश को काफी सपोर्ट किया। उनके निधन से मरुस्थल

में एक जगह खाली हुई है जिसे हम लोग कभी नहीं भर पाएंगे।'

उन्होंने कहा, 'हरीश के साथ मैंने कई शो किए थे। वह दूसरे कलाकारों की बहुत कद्र करते थे। हरीश के नहीं होने से 30-40 मांगणियार कलाकार भी अनाथ हुए हैं। हरीश प्रसिद्ध राजस्थानी लोकनृत्य कालबेलिया, चरी, चकरी, भवई, तराजू, घूमर और तेरह ताली जैसी शैलियों में नृत्य किया करते थे।'

मुंशी प्रेमचंद ने कर्मभूमि में लिखा है, 'पुरुषों में थोड़ी पशुता होती है, जिसे वह इरादा करने पर भी हटा नहीं सकता। वह पशुता उसे पुरुष बनाती है। विकास के क्रम में वह स्त्री से पीछे है। जिस दिन वह पूर्ण विकास को पहुंचेगा, वह भी स्त्री हो जाएगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया इन्हीं आधारों पर सृष्टि थमी हुई है और ये स्त्रियों के गुण हैं।'

क्या क्वीन हरीश ने कर्मभूमि पढ़ी होगी, जहां तक मेरा अंदाजा है, बिल्कुल नहीं। लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि डांस करते वक्त हरीश के चेहरे से स्नेह और वात्सल्य झलकता था। एक कलाकार के तौर पर शायद वह पूर्ण विकास को पहुंच चुका था और स्त्री होकर अपने रचे उस संसार की यात्रा पर निकल गया।

साभार : द वायर



मेरे गाँव को शुभकामनायें और सहानुभूति

सहानुभूति है उस गाँव से जिसके लोग भेड़ बकरी की चाल में
खुद को धकेल चुके हैं जाल में
और बकरवाल उनका भटका रहा है उनको राहों में
तरस आ रहा है उस गाँव पर जिसके पंच झूठे हैं ज्ञानी चुप हैं
और जिसके ऊपर धर्मांध का साया है, कट्टरवादी सोच की छाया है
चिंता हो रही है उस गाँव की जिसके लोग
आवाज़ उठाते हैं तो सिर्फ इतिहास की गाथाएं गाने को
वीरो के गीत सुनाने को, वर्तमान के सवालियों पर मौन हैं
सोच में हूँ देख के कि उस गाँव के लोग दंगाई को नायक बनाते हैं
यातनाओ और शक्ति प्रभाव के जोर पर विश्व को जीतने के ख्वाब सजाते हैं
चिंता है उस गाँव की जो अपनी भाषा और धर्म से परे कुछ नहीं जानता
दूसरे गाँव की संस्कृति को भी वह नहीं मानता
जो विकास की राह पर सिर्फ पैसों का मोह जानता है
जो भूखा है पर फिर भी भरपेट होने का स्वांग रचाता है
तरस आता है उस गाँव पर नहीं सच कहूँ तो गाँव के लोगो पर
जिन्होंने खुद अपने अधिकारों को नष्ट किया है
अपनी आजादी को खोया है
क्या उस गाँव के लिए आंसू बहाऊँ ?
या उसके लोगो को चेताऊँ



अनुवाद : बबीता नेगी

इस कविता का आधार Lawrence Ferlinghetti की कविता
Pity The Nation है।

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,
भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904
ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in
केवल सीमित वितरण के लिए
मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017